संवर्ग : 1

इकाई : 1 लोकवाद

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 लोक-अलोक
    1.2.1 लोक-अलोक विभजक तत्व
    1.2.2 लोक-अलोक का परिमाण
    1.2.3 लोक-अलोक का संरचना
    1.2.4 लोक-स्थिति
    1.2.5 लोक शश्वत या अशाश्वत
1.3 विश्व : विकास और ह्रास
    1.3.1 विश्व स्थिति के मूल सूत्र
    1.3.2 विकास और ह्रास
    1.3.3 विकास और ह्रास के कारण
    1.3.4 प्राणि विभाग
    1.3.5 उत्पत्ति स्थान
    1.3.6 स्थावर गत
    1.3.7 समूहगत जीवन
    1.3.8 साधारण वनस्पति जीवों का परिमाण
    1.3.9 प्रत्येक वसनस्पति
    1.3.10 क्रम विकासवाद के मूल सूत्र
    1.3.11 शारीरिक परिवर्तन का ह्रास
    1.3.12 प्रभाव के निमित्त
1.4 सारांश
1.5 अभ्यास के प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

लोक के आदि बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुक थे। वह मृदु-मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता; ध्यान, संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है वह भगवान् के पास आया, वंदना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला—'भंते! पहले लोक हुआ और फिर अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक?

भगवान्—'रोह! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादिकाल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पार्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।'

रोह—'भंते! पहले अजीव हुए और फिर जीव? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव?

भगवान्—'रोह! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इनमें भी पौर्वापर्य नहीं है।'

रोह—'भंते! पहले भव्य हुए और फिर अभव्य? अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य?'

'भंते! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (संसार)? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि?'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'भंते! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (संसारी)? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध?'

भगवान्—'रोह! ये सभी शाश्वत भाव हैं।'

रोह—'भंते! पहले मुर्गी हुई और फिर अण्डा हुआ? अथवा पहले अण्डा हुआ और फिर मुर्गी?'

भगवान्—'अण्डा किससे पैदा हुआ?'

रोह—'भंते! मुर्गी से।'

भगवान्—'रोह! मुर्गी किससे पैदा हुई?'

रोह—'भंते! अण्डे से।'

भगवान्—'इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं और पीछे भी हैं। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नहीं है।' इस प्रकार स्पष्ट है कि लोक की कोई आदि (beginning) नहीं है।

1.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में विश्व के स्वरूप और स्थिति के साथ-साथ उसकी विकास और ह्रास की स्थितियों पर विचार किया जा रहा है। विश्व के लिए जैनागमों में 'लोक' शब्द प्रचलित है। इसीलिए इस पाठ का नाम लोकवाद रखा गया है। लोक का प्रतिपक्षी अलोक है। उसकी भी प्रासंगिक चर्चा प्रस्तुत पाठ में की गई है।

1.2 लोक-अलोक

जहां हम रह रहे हैं वह क्या है? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के बिना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है। इसके अतिरिक्त वहां कुछ भी नहीं है। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति और परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वहीं होती हैं, जहां आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्य की सहस्थिति है, वह लोक है। पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है वह लोक है। संक्षेप में जीव और अजीव की सहस्थिति है, वह लोक है। जहां केवल आकाश द्रव्य है वह अलोक है।

1.2.1 लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक-तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और है नहीं। आकाश स्वयं विभाज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को दिग्रूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक—दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं है। व्यावहारिक काल सूर्य और चंद्र की गतिक्रिया से होने वाला समय-विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिमाण वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नहीं बनते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। बस ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खंड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहां तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति, स्थिति का सहाय्य नहीं मिलता, इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के बिना स्थिति का प्रश्न ही क्या? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

1.2.2 लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह रज्जू परिमाण परिमित हैं। इसलिए लोक भी सीमित हैं। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त—असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। स्कन्ध संन्यासी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि—क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त (सीमित) है। धर्मास्तिकाय, जो गति में सहायक होता है, वह लोक-प्रमाण है। इसीलिए लोक के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.2.3 लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शरावों (bowl) में से एक शराव ओंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर ओंधा रखने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान य त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है। लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है। उसका कोई विभाग नहीं होता है। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है। ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह रज्जू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात रज्जू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात रज्जू से अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म-अधर्म के द्वारा लोक और अलोक—इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न आकृतियां बनती हैं। धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत रूप से व्याप्त हैं अत: अधोलोक का आकार ओंधे किये हुए शराव जैसा बनता है। मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उसका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए ऊर्ध्व लोक का आकार ऊर्ध्वमुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात रज्जू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक। द्रव्यलोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है। लोक की परिधि असंख्य योजन कोड़ाकोड़ी (करोड़ से करोड़ को गुणा करने पर जो संख्या निकले उतनी) की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सांत हैं। सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो. आइन्स्टीन ने लोक का व्यास एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाशवर्ष माना है। एक प्रकाशवर्ष उस दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण 1,86,000 मील प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है। भगवान् महावीर ने देवताओं की 'शीघ्रगति' की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे—छह देवता लोक का अंत लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची) में चले। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्म ... उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढ़ियां बीत गईं। उनके नाम-गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अंत तक नहीं पहुंचे। हां, वे चलते-चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त उसका कोई अंत नहीं है। ऐसा कोई काल खण्ड नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो।

लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काललोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की पर्याएं अनन्त हैं तथा बादर स्कन्धों की गुरु-लघु पर्याएं, सूक्ष्म स्कन्धों और अमूर्त्त द्रव्यों की अगुरु-लघु पर्याएं अनन्त हैं। इसलिए भाव-लोक अनन्त हैं।

1.2.4 लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भंते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है? अर्थात् विश्व किस क्रम से निर्मित है?

भगवान् ने कहा—'गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं।'

1. वायु आकाश पर टिकी हुई है।
2. समुद्र वायु पर टिका हुआ है।
3. पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।
4. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।
5. अजीव जीव के आश्रित हैं।
6. सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।
7. अजीव जीवों द्वारा संगृहीत हैं।
8. जीव कर्म-संगृहीत हैं।

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधार-आधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव (पुद्गल) में आधार-आधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव—ये दोनों हैं। जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जीव अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक (ग्रहणकर्त्ता) है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्हीं की संयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यों का आपस में संग्राह्य-संग्राहक भाव नहीं है।

लोक-स्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य-संग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

प्रस्तुत विषय की चर्चा उपनिषद् में मिलती है:

गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'याज्ञवल्क्य! यह विश्व जल में ओत-प्रोत है, परंतु जल किसमें ओत-प्रोत है?'

'वायु में, गार्गी!'

'वायु किसमें ओत-प्रोत है?'

'अंतरिक्ष में, अंतरिक्ष गंधर्व-लोक में, गंधर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में नक्षत्र लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।'

'ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य?'

'यह अति-प्रश्न है, गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कटकर गिर पड़ेगा।'

1.2.5 लोक शाश्वत या अशाश्वत

लोक के विषय में जिज्ञासा होती है कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? इस समस्या का समाधान जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के आधार पर इस प्रकार किया है:

लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। काल की अपेक्षा लोक शाश्वत है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न मिले। त्रिकाल में वह एकरूप नहीं रहता, इसलिए वह अशाश्वत भी है। जो एकान्तत: शाश्वत होता है, उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, इसलिए वह अशाश्वत है। जो एकान्तत: अशाश्वत होता है, उसमें अन्वयी सम्बन्ध नहीं हो सकता। पहले क्षण में होने वाला लोक दूसरे क्षण अत्यन्त उच्छिन्न हो जाए तो फिर वर्तमान के अतिरिक्त अतीत, अनागत आदि का भेद नहीं घटता। कोई ध्रुव पदार्थ हो—त्रिकाल में टिका रहे, तभी वह था, है और रहेगा—यों कहा जा सकता है। पदार्थ यदि क्षण-विनाशी ही हो तो अतीत और अनागत के भेद का कोई आधार ही नहीं रहता। इसलिए विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा लोक शाश्वत है' यह माने बिना भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती।

1.3 विश्व: विकास और ह्रास

अब तक हमने विश्व की चर्चा उत्पत्ति, परिमाण और आकार इत्यादि दृष्टियों से की। अब हम उसके घटक तत्त्व—जीव और अजीव के विकास और ह्रास की चर्चा करेंगे जो विश्व के विकास और ह्रास का आधार है। जहां तक विकास और ह्रास की बात है उसका सीधा सम्बन्ध जीव-जगत से है। जड़ में विकास और ह्रास यांत्रिक और क्रम-शून्य है।

अनादि-अनन्त

जीवन-प्रवाह के बारे में अनेक धारणाएं हैं। बहुत सारे इसे अनादि-अनन्त मानते हैं तो बहुत सारे सादि-सान्त। जीवन-प्रवाह को अनादि-अनन्त मानने वालों को उसकी उत्पत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। चैतन्य कब, कैसे और किससे उत्पन्न हुआ—ये समस्याएं उन्हें सताती हैं जो असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'उपादान' की मर्यादा को स्वीकार करने वाले असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं मान सकते। अर्थात् पहले कुछ नहीं था शून्य से जगत् अस्तित्व में आया—ऐसा नहीं मानते। अन्यथा बिना दूध के भी दही और बिना पानी के भी बर्फ जमने लगेगी। जबकि ऐसा अनुभव में नहीं आता है। न ही अपने से भिन्न तत्त्व से किसी की उत्पत्ति देखी जाती है। अन्यथा नींबू के बीज से आम की उत्पत्ति हो जाती और आम के बीज से बबुल की उत्पत्ति हो जाती किन्तु ऐसा भी अनुभव नहीं होता। अत: मानना होगा कि जीव अजीव से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। ये दोनों ही एक-दूसरे से उत्पन्न नहीं है। उत्पत्ति के अभाव में विनाश की कल्पना भी निरर्थक है। जैन-दृष्टि के अनुसार यह जगत् अनादि-अनन्त है। इसकी मात्रा न घटती है, न बढ़ती है, केवल रूपान्तरण होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.3.1 विश्व-स्थिति के मूल सूत्र

विश्व-स्थिति की आधारभूत दस बातें हैं:

1. पुनर्जन्म—जीव मरकर बार-बार जन्म लेते हैं।
2. कर्मबंध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) कर्म बांधते हैं।
3. मोहनीय-कर्मबंध—जीव सदा (प्रवाहरूपेण अनादिकाल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।
4. जीव-अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न तो हुआ, न है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।
5. त्रस-स्थावर-अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न है और न होगा कि सभी त्रस जीव स्थावर बन जाएं या सभी स्थावर जीव त्रस बन जाएं या सभी जीव केवल त्रस या केवल स्थावर हो जाएं।
6. लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न हुआ, न है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।
7. लोकालोक अन्योन्याप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।
8. लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव है और जितने क्षेत्र में जीव है, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।
9. लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र 'लोक' है उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।
10. अलोक-गति-कारणाभाव—लोक के अंतिम भागों में स्थित पुद्गल रूक्ष होते हैं। वे गति में सहायता करने के योग्य नहीं होते। उनकी सहायता के बिना तथा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अभाव में जीव और पुद्गल अलोक में गति नहीं कर सकते।

1.3.2 विकास और ह्रास

विकास और ह्रास—ये परिवर्तन के मुख्य पहलू हैं। एकान्तनित्य-स्थिति में न विकास हो सकता है और न ह्रास। एकान्त-अनित्य स्थिति में भी दोनों संभव नहीं है। परिणामिनित्यत्व अर्थात् परिवर्तनशील+स्थितिशील स्थिति में ही विकास और ह्रास दोनों संभव है। डार्विन के मतानुसार यह विश्व क्रमशः विकास की ओर बढ़ रहा है। जैनदृष्टि इसे स्वीकार नहीं करती। विकास और ह्रास जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में होता है। जीव का अंतिम विकास है—मुक्त-दशा। यहां पहुंचने पर फिर ह्रास नहीं होता। इससे पहले आध्यात्मिक क्रम-विकास की जो चौदह भूमिकाएं हैं, उनमें आठवीं (क्षपक-श्रेणी) भूमिका पर पहुंचने के बाद मुक्त बनने से पहले क्षण तक क्रमिक विकास होता है। इससे पहले विकास और ह्रास—ये दोनो चलते हैं। कभी ह्रास से विकास और कभी विकास से ह्रास होता रहता है। विकास-दशाएं ये हैं:

1. अव्यवहार राशि..... साधारण-वनस्पति।
2. व्यवहार राशि..... प्रत्येक-वनस्पति, साधारण-वनस्पति।
   क. एकेन्द्रिय..... साधारण-वनस्पति, प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु।
   ख. द्वीन्द्रिय।
   ग. त्रीन्द्रिय।
   घ. चतुरिन्द्रिय।
   ड. पंचेन्द्रिय।

प्रत्येक प्राणी इन सबको क्रमशः पार करके आगे बढ़ता है, यह आवश्यक नहीं है। यह प्राणियों की योग्यता का क्रम है, उत्क्रांति का क्रम नहीं। उत्क्रमण (विकास) और अपक्रमण (ह्रास) जीवों की आध्यात्मिक योग्यता और सहयोगी परिस्थितियों के समन्वय पर निर्भर है। दार्शनिकों का 'ध्येयवाद' भविष्य को प्रेरक मानता है और वैज्ञानिकों का 'विकासवाद' अतीत को। ध्येय की ओर बढ़ने से जीव का आध्यात्मिक विकास होता है—ऐसी कुछ दार्शनिकों की मान्यता है। किन्तु ये दार्शनिक विचार भी बाह्य प्रेरणा हैं। आत्मा स्वतः स्फूर्त है। वह ध्येय की ओर बढ़ने के लिए बाध्य नहीं, स्वतंत्र है। ध्येय को उचित रीति से समझ लेने के बाद वह उसकी ओर बढ़ने का प्रयत्न कर सकती है। उचित सामग्री मिलने पर वह प्रयत्न सफल भी हो सकता है। किन्तु 'ध्येय की ओर प्रगति' होगी—यह सर्वमान्य नियम नहीं है। यह काल, स्वभाव, नियति, उद्योग आदि विशेष सामग्री-सापेक्ष है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैज्ञानिक विकासवाद बाह्य स्थितियों का आकलन है। अतीत की अपेक्षा विकास की परम्परा आगे बढ़ती है, यह निश्चित सत्य नहीं है। किन्हीं का विकास हुआ है तो किन्हीं का ळास भी हुआ है। अतीत ने नयी आकृतियों की परम्परा को आगे बढ़ाया है, तो वर्तमान ने पुराने रूपों को अपनी गोद में समेटा भी है। इसलिए अकेले अवसर को दी हुई अधिक स्वतंत्रता मान्य नहीं हो सकती। विकास बाह्य परिस्थिति द्वारा परिचालित हो—आत्मा अपने से बाहर वाली शक्ति से परिचालित हो तो वह स्वतंत्र नहीं हो सकती। परिस्थिति का दास बनकर आत्मा कभी अपना विकास नहीं साध सकती।

पुद्गल की शक्तियों का विकास और ह्रास—ये दोनों सदा चलते हैं। इनके विकास या ह्रास का निरवधिक चरम रूप नहीं है। शक्ति की दृष्टि से एक पौद्गलिक स्कन्ध में अनन्त-गुण तारतम्य हो जाता है। आकार-रचना की दृष्टि से एक-एक परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है और फिर वे बिखरकर एक-एक परमाणु बन जाते हैं।

पुद्गल अचेतन है, इसलिए उसका विकास या ह्रास चैतन्य-प्रेरित नहीं होता है, इसलिए उसके विकास-ह्रास में बाहरी प्रेरणा के अतिरिक्त आंतरिक प्रेरणा भी होती है।

जीव (चैतन्य) और शरीर का लोलीभूत संश्लेष होता है, इसलिए आंतरिक प्रेरणा के दो रूप बन जाते हैं—आत्म-जनित और शरीर-जनित।

आत्म-जनित आंतरिक प्रेरणा से आध्यात्मिक विकास होता है और शरीर-जनित से शारीरिक विकास।

शरीर पांच हैं। उनमें दो सूक्ष्म हैं और तीन स्थूल। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का प्रेरक होता है। इसकी वर्गणाएं शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की होती हैं। शुभ वर्गणाओं के उदय से पौद्गलिक या शारीरिक विकास होता है और अशुभ वर्गणाओं के उदय से आत्म-चेतना का ह्रास, आवरण और शारीरिक स्थिति का भी ह्रास होता है।

जैनदृष्टि के अनुसार चेतना और अचेतन-पुद्गल-संयोगात्मक सृष्टि का विकास क्रमिक ही होता हो, ऐसा नहीं है।

1.3.3 विकास और ह्रास के कारण

विकास और ह्रास का मुख्य कारण है आंतरिक प्रेरणा या आंतरिक स्थिति या आंतरिक योग्यता और सहायक कारण है बाहरी स्थिति। डार्विन का सिद्धान्त बाहरी स्थिति को अनुचित महत्त्व देता है। बाहरी स्थितियां केवल आंतरिक वृत्तियों को जगाती हैं, उनका नये सिरे से निर्माण नहीं करती। चेतन में योग्यता होती है, वही बाहरी स्थिति का सहारा पा विकसित हो जाती है।

1. अंतरंग योग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न होता है।
2. अंतरंग अयोग्यता और बहिरंग अनुकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
3. अंतरंग योग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।
4. अंतरंग अयोग्यता और बहिरंग प्रतिकूलता—कार्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रत्येक प्राणी में दस संज्ञाएं और जीवन-सुख की आकांक्षाएं होती हैं। उसमें तीन एषणाएं भी होती हैं:

1. प्राणैषणा—मैं जीवित रहूं। 2. पुत्रैषणा—मेरी संतति चले। 3.वित्तैषणा—मैं धनी बनूं।

अर्थ और काम की इस आंतरिक प्रेरणा तथा भूख, प्यास, ठंडक, गर्मी आदि-आदि बाहरी स्थितियों के प्रहार से प्राणी की बहिर्मुखी वृत्तियों का विकास होता है। यह एक जीवनगत-विकास की स्थिति है। विकास का प्रवाह भी चलता है। एक पीढ़ी का विकास दूसरी पीढ़ी को अनायास मिल जाता है। किन्तु उद्भिद्-जगत् से लेकर मनुष्य-जगत् तक जो विकास है, वह पहली पीढ़ी के विकास की देन नहीं है। यह व्यक्ति-विकास की स्वतंत्र गति है। उद्भिद्-जगत् से भिन्न जातियां उसकी शाखाएं नहीं किन्तु स्वतंत्र हैं। उद्भिद् जाति का एक जीव पुनर्जन्म के माध्यम से मनुष्य बन सकता है। यह जातिगत विकास नहीं, व्यक्तिगत विकास है।

विकास होता है, इसमें दोनों विचार एक रेखा पर हैं। किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। डार्विन के मतानुसार विकास जाति का होता है और जैनदर्शन के अनुसार व्यक्ति का। डार्विन को आत्मा और कर्म की योग्यता ज्ञात होती तो उनका ध्यान केवल जाति, जो कि बाहरी वस्तु है, के विकास की ओर नहीं जाता। आंतरिक योग्यता की कमी होने पर एक मनुष्य फिर से उद्भिद् जाति में जा सकता है, यह व्यक्तिगत ह्रास है।

1.3.4 प्राणि-विभाग

प्राणी दो प्रकार के होते हैं—चर और अचर। अचर प्राणी पांच प्रकार के होते हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और वनस्पतिकाय। चर प्राणियों के आठ भेद होते हैं— 1. अण्डज, 2. पोतज, 3. जरायुज, 4. रसज 5. संस्वेदज 6. सम्मूर्च्छिम 7. उद्भिद् 8. उपपातज।

1. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले प्राणी अण्डज कहलाते हैं। जैसे—सांप, केंचुआ, मच्छ, कबूतर, हंस, काक, मोर आदि जन्तु।
2. पोतज—जो जीव खुले अंग से उत्पन्न होते हैं, वे पोतज कहलाते हैं। जैसे—हाथी, नकुल, चूहा, बगुला आदि।
3. जरायुज—जरायु एक तरह का जाल जैसा रक्त एवं मांस से लथड़ा हुआ आवरण होता है और जन्म के समय वह बच्चे के शरीर पर लिपटा हुआ रहता है। ऐसे जन्म वाले प्राणी जरायुज कहलाते हैं। जैसे—मनुष्य, गौ, भैंस, ऊंट, घोड़ा, मृग, सिंह, रीछ, कुत्ता, बिल्ली आदि।
4. रसज—मद्य आदि में जो कृमि उत्पन्न होते हैं, वे रसज कहलाते हैं।
5. संस्वेदज—संस्वेद (पसीने) में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज कहलाते हैं। जैसे—जूं आदि।
6. सम्मूर्च्छिम—किसी संयोग की प्रधानतया अपेक्षा नहीं रखते हुए जहां-कहीं जो उत्पन्न हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम हैं। जैसे—चींटी, मक्खी आदि।
7. उद्भिद्—भूमि को भेदकर निकलने वाले प्राणी उद्भिद् कहलाते हैं। जैसे टिड्डी आदि
8. उपपातज—शय्या एवं कुम्भी में उत्पन्न होने वाले उपपातज हैं। जैसे—देवता, नारक आदि।

1.3.5 उत्पत्ति-स्थान

'सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्व नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं और वहीं स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करते हैं।वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, शरीर में रहते हैं, शरीर में वृद्धि को प्राप्त करते हैं और शरीर का ही आहार करते हैं। वे कर्म के अनुगामी हैं। कर्म ही उनकी उत्पत्ति, स्थिति और गति आदि का कारण है। वे कर्म के प्रभाव से ही विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं।' प्राणियों के उत्पत्ति-स्थान 84 लाख हैं और उनके कुल एक करोड़ साढ़े सत्तानवें लाख (1,97,50,000) हैं। एक उत्पत्ति-स्थान में अनेक कुल होते हैं। जैसे गोबर एक ही योनि है और उसमें कृमि-कीट, कीट-कुल, वृश्चिक-कुल आदि अनेक कुल हैं।

स्थान	उत्पत्ति-स्थान	कुल-कोटि
1. पृथ्वीकाय	7 लाख	12 लाख
2. अप्काय	7 लाख	7 लाख
3. तेजस्काय	7 लाख	7 लाख
4. वायुकाय	7 लाख	7 लाख
5. वनस्पतिकाय	24 लाख	28 लाख
6. द्वीन्द्रिय	2 लाख	7 लाख
7. त्रीन्द्रिय	2 लाख	8 लाख
8. चतुरिन्द्रिय	2 लाख	9 लाख
9. तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय (पशु, पक्षी, मच्छर इत्यादि)	4 लाख	9 लाख जलचर—12।।लाख खेचर—12 लाख स्थलचर— 10लाख परिसर्प—9लाख भुज-परिसर्प—9 लाख
10. मनुष्य	14 लाख	12 लाख
11. नारक	4 लाख	25 लाख
12. देव	4 लाख	26 लाख

उत्पत्ति-स्थान एवं कुल-कोटि के अध्ययन से जाना जाता है कि प्राणियों की विविधता एवं भिन्नता का होना असंभव नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.3.6 स्थावर-जगत्

उक्त प्राणी-विभाग जन्म-प्रक्रिया की दृष्टि से है। गति की दृष्टि से प्राणी दो भागों में विभक्त होते हैं—स्थावर और त्रस। त्रस जीवों में गति, अगति, भाषा, इच्छा-व्यक्तीकरण आदि-आदि चैतन्य के स्पष्ट चिह्न प्रतीत होते हैं, इसलिए उनकी सचेतनता में कोई संदेह नहीं होता। स्थावर जीवों में जीव के व्यावहारिक लक्षण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते, इसलिए उनकी सजीवता चक्षुगम्य नहीं है। जैन सूत्र बताते हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पांचों स्थावर-काय सजीव हैं। इसका आधारभूत सिद्धान्त यह है—हमें जितने पुद्गल दीखते हैं, वे सब जीवत्-शरीर या जीव-मुक्त शरीर हैं। जिन पुद्गल-स्कन्धों को जीव अपने शरीर-रूप में परिणत कर लेते हैं, उन्हीं को हम देख सकते हैं, दूसरों को नहीं। पांच-स्थावर के रूप में परिणत पुद्गल उत्पत्तिकाल में सजीव ही होता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी प्रारंभ में सजीव ही होते हैं। जिस प्रकार स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक मृत्यु से मनुष्य-शरीर निर्जीव या आत्म-रहित हो जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के शरीर भी स्वाभाविक या प्रायोगिक मृत्यु से निर्जीव बन जाते हैं। इनकी सजीवता का बोध कराने के लिए पूर्ववर्ती आचार्यों ने तुल्नात्मक युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—

1. मनुष्य-शरीर में समान जातीय मांसांकुर पैदा होते हैं, वैसे ही पृथ्वी में भी समान जातीय अंकुर पैदा होते हैं इसलिए वह सजीव है।
2. अण्डे का प्रवाही रस सजीव होता है, पानी भी प्रवाही है, इसलिए सजीव है। गर्भकाल के प्रारंभ में मनुष्य तरल होता है, वैसे ही पानी तरह है, इसलिए सजीव है। मूत्र आदि तरल पदार्थ शस्त्र-परिणत होते हैं, इसलिए वे निर्जीव होते हैं।
3. जुगनू का प्रकाश और मनुष्य के शरीर में ज्वरावस्था में होने वाला ताप जीव-संयोगी है। वैसे ही अग्नि का प्रकाश और ताप जीव-संयोगी है। आहार के भाव और अभाव में होने वाली वृद्धि और हानि की अपेक्षा मनुष्य और अग्नि की समान स्थिति है। दोनों का जीवन वायु-सापेक्ष है। वायु के बिना मनुष्य नहीं जीता, वैसे अग्नि भी नहीं जीती। मनुष्य में जैसे प्राणवायु (ऑक्सीजन) का ग्रहण और विषवायु (कार्बन-डाइ-ऑक्साइड) का उत्सर्ग होता है, वैसे अग्नि में भी होता है। इसलिए वह मनुष्य की भांति सजीव है। सूर्य का प्रकाश भी जीव-संयोगी है। सूर्य, 'आतप' नामकर्मोदययुक्त पृथ्वीकायिक जीवों का शरीर-पिण्ड है।
4. वायु में व्यक्त प्राणी की भांति अनियमित स्वप्रेरित गति होती है। इससे उसकी सचेतनता का अनुमान किया जा सकता है। स्थूल पुद्गल-स्कन्धों में अनियमित गति पर-प्रेरणा से होती है, स्वतः नहीं। ये चार जीव-निकाय हैं। इनमें से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं। मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, पानी की एक बूंद, अग्नि का एक कण, वायु का एक सूक्ष्म भाग—ये सब असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पिण्ड हैं। इनके एक जीव का एक शरीर अति-सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टि का विषय नहीं बनता। हम इनके पिण्डीभूत असंख्य शरीरों को ही देख सकते हैं।
5. वनस्पति का चैतन्य पूर्ववर्ती निकायों से स्पष्ट है। इसे जैनेतर दार्शनिक भी सजीव मानते आए हैं और वैज्ञानिक जगत् में भी इनके चैतन्य सम्बन्धी विविध परीक्षण हुए हैं। बेतार की तरंगों के बारे में अन्वेषण करते समय जगदीशचन्द्र बसु को यह अनुभव हुआ कि धातुओं के परमाणु पर भी अधिक दबाव पड़ने से रूकावट आती है और उन्हें फिर उत्तेजित करने पर वह दूर हो जाती है। उन्होंने सूक्ष्म छानबीन के बाद बताया कि धान्य आदि पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, नशे में मस्त होते हैं और मरते हैं। अंत में उन्होंने यह प्रमाणित किया कि संसार के सभी पदार्थ सचेतन हैं। वेदान्त की भाषा में सभी पदार्थों में एक ही चेतन प्रवाहित हो रहा है।

जैन की भाषा में समूचा संसार अनन्त जीवों से व्याप्त है। एक अणुमात्र प्रदेश भी जीवों से खाली नहीं है। वनस्पति की सचेतनता सिद्ध करते हुए उसकी मनुष्य के साथ तुलना की गई है।

जैसे मनुष्य-शरीर जन्म लेता है, वैसे वनस्पति भी जन्म लेती है। जैसे मनुष्य-शरीर बालक, युवक तथा वृद्ध अवस्था प्राप्त करता है, वैसे वनस्पति शरीर भी। जैसे मनुष्य मनुष्य सचेतन है, वैसे वनस्पति भी। जैसे मनुष्य-शरीर छेदन करने से म्लान हो जाता है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर आहार करने वाला है, वैसे वनस्पति-शरीर भी। जैसे मनुष्य-शरीर अनित्य है, वैसे वनस्पति का शरीर भी। जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत है (प्रतिक्षण मरता है), वैसे वनस्पति के शरीर की भी प्रतिक्षण मृत्यु होती है। जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार की प्राप्ति से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति के शरीर में भी। जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमनयुक्त है अर्थात् रोगों के सम्पर्क से पाण्डुत्व, वृद्धि, सृजन, कृशता, छिद्र आदि युक्त हो जाता है और औषधि-सेवन से कांति, बल, पुष्टि आदि युक्त हो जाता है, वैसे वनस्पति-शरीर भी नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त होकर पुष्प, फल और त्वचा-विहीन हो जाता है और औषधि के संयोग से पुष्प, फलादि युक्त हो जाता है। अतः वनस्पति चेतनायुक्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएं होती हैं। संज्ञा का अर्थ है—अनुभव। दस संज्ञाएं ये हैं—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, ओघ-संज्ञा एवं लोक-संज्ञा। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होने वाले वृक्षों का सार खींच लेती हैं। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई' आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'कुरूबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित हो जाता है इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएं अपने तंतुओं से वृक्ष को बींट लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिदती' नाम की बेल मान लेने से झरने लग जाती है। लताएं अपने फलों को माया से ढक लेती हैं। बिल्व और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी है। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा है।

वृक्षों में जलादि सींचते हैं, वह फलादि के रस के रूप में परिणत हो जाता है, इसलिए वनस्पति में उच्छ्वास का सद्भाव है। स्नायविक धड़कनों के बिना रस का प्रसार नहीं हो सकता। जैसे मनुष्य शरीर में अध्यवसाय से रक्त का होता है और मृत-शरीर में उच्छ्वास है। इस प्रकार अनेक युक्तियों से वनस्पति की सचेतनता सिद्ध की गई है।

वनस्पति के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, वह साधारण-शरीरी, अनन्त काय या सूक्ष्म निगोद है। एक शरीर में एक ही जीव होता है, वह प्रत्येक-शरीरी है।

1.3.7 समूहगत जीवन

साधारण-वनस्पति का जीवन समूहगत होता है। फिर भी उनकी आत्मिक सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। कोई भी जीव अपना अस्तित्व नहीं गंवाता। उन एक शरीराश्रयी अनन्त जीवों के सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण पृथक्-पृथक् होते हैं। उन पर एक-दूसरे का प्रभाव नहीं होता। उनके साम्यवादी जीवन की परिभाषा करते हुए बताया कि—'साधारण वनस्पति का एक जीव जो कुछ आहार आदि पुद्गल-समूह का ग्रहण करता है, वह तत्शरीरस्थ शेष सभी जीवों के उपभोग में आता है और बहुत सारे जीव जिन पुद्गलों का ग्रहण करते हैं, वे एक जीव के उपभोग्य बनते हैं।' उनके आहार-विहार, उच्छ्वास-नि:श्वास, शरीर-निर्माण और मौत—ये सभी साधारण कार्य एक साथ होते हैं। साधारण जीवों का प्रत्येक शारीरिक कार्य साधारण होता है। पृथक्-शरीरी मनुष्यों के कृत्रिम समूहों में ऐसी साधारणता कभी नहीं आती। साधारण जीवों का स्वाभाविक समूहात्मक जीवन साम्यवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जीव अमूर्त है, इसलिए वे क्षेत्र नहीं रोकते। क्षेत्र-निरोध स्थूल पौद्गलिक वस्तुएं ही करती हैं। साधारण जीवों के स्थूल शरीर पृथक्-पृथक् नहीं होते। जो जो निजी शरीर हैं, वे सूक्ष्म होते हैं, इसलिए एक सुई के अग्र भाग जितने से छोटे शरीर में अनन्त जीव समा जाते हैं। सुई की नोक टिके उतने 'लक्ष्यपाक' तेल में एक लाख औषधियों की अस्तिता टुकड़े में 10,00,00,00,00,00,00,00,000 अणु हैं। इन उदाहरणों को देखते हुए साधारण जीवों की एक शरीराश्रयी स्थिति में कोई संदेह नहीं होता। आग में तपा लोहे का गोला अग्निमय होता है, वैसे साधारण वनस्पति-शरीर जीवमय होता है।

1.3.8 साधारण-वनस्पति जीवों का परिमाण

लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। उसके एक-एक आकाश-प्रदेश पर एक-एक निगोद-जीव को रखते चले जाइए। वे एक लोक में नहीं समायेंगे, दो-चार में भी नहीं। वैसे अनन्त लोक आवश्यक होंगे। इस काल्पनिक संख्या से उनका परिमाण समझिए। उनकी शारीरिक स्थिति संकीर्ण होती है। इसी कारण वे ससीम लोक में समा रहे हैं।

1.3.9 प्रत्येक-वनस्पति

प्रत्येक-वनस्पति जीवों के शरीर पृथक्-पृथक् होते हैं। प्रत्येक जीव अपने शरीर का निर्माण स्वयं करता है। उनमें पराश्रयता भी होती है। एक घटक जीव के आश्रय में असंख्य जीव पलते हैं। वृक्ष के घटक बीज में एक जीव होता है। उसके आश्रय में पत्र, पुष्प और फूल के असंख्य जीव उपजते हैं। बीजावस्था के सिवाय वनस्पति-जीव समूहरूप में रहते हैं। श्लेष्म-द्रव्य-मिश्रित सरसों के दाने अथवा तिलपपड़ी के तिल एक-रूप बन जाते हैं। तब भी उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् रहती है। प्रत्येक-वनस्पति के शरीरों की भी यही बात है। शरीर की संघात-दशा में भी उनकी सत्ता स्वतंत्र रहती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधारण-वनस्पति जीवों की भांति प्रत्येक-वनस्पतिका एक-एक जीव लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रखा जाए तो ऐसे असंख्य लोक बन जाएं। यह लोक असंख्य आकाश-प्रदेश वाला है, ऐसे असंख्य लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने प्रत्येक-शरीरी वनस्पति जीव हैं।

1.3.10 क्रम-विकासवाद के मूल सूत्र

डार्विन का सिद्धान्त चार मान्यताओं पर आधारिक है—

1. पितृ नियम=समान में से समान संतति की उत्पत्ति।
2. परिवर्तन का नियम—निश्चित दशा में सदा परिवर्तन होता है किन्तु वह उसके विरुद्ध नहीं होता। वह (परिवर्तन) सदा आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता। उससे उन्नति होती है, अवनति नहीं होती।
3. अधिक उत्पत्ति का नियम—यह जीवन-संग्राम का नियम है। अधिक होते हैं, वहां परस्पर संघर्ष होते हैं। यह अस्तित्व को बनाये रखने की लड़ाई है।
4. योग्य-विजय—अस्तित्व की लड़ाई में जो योग्य होता है, विजय उसी के हाथ में आती है। स्वाभाविक चुनाव में योग्य को ही अवसर मिलता है। प्रकारान्तर से इसका वर्गीकरण भी हो सकता है—1. स्वत: परिवर्तन, 2. वंश-परम्परा द्वारा अगली पीढ़ी में परिवर्तन, 3. जीवन-संघर्ष में योग्यतम का शेष रहना।

इसके अनुसार पिता-माता के अर्जित गुण संतान में संक्रांत होते हैं। वे ही गुण वंशानुक्रम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे उपस्थित होकर सुदीर्घकाल में सुस्पष्ट आकार धारण करके एक जाति से अभिनव जाति उत्पन्न कर देते हैं।

डार्विन के मतानुसार पिता-माता के प्रत्येक अंग से सूक्ष्मकला या अवयव निकलकर शुक्र और शोणित से संतान का शरीर बनता है। अतएव पिता-माता के उपार्जित गुण संतान में संक्रांत होते हैं।

इसमें सत्यांश है, किन्तु वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण नहीं। एक संतति में स्वत: बुद्धिगम्य कारणों के बिना भी परिवर्तन होता है। उस पर माता-पिता का भी प्रभाव पड़ता है। जीवन-संग्राम में योग्यतम विजयी होता है, यह सच है किन्तु यह उससे अधिक सच है कि परिवर्तन की भी एक सीमा है। वह समानजातीय होता है, विजातीय नहीं। द्रव्य की सत्ता का अतिक्रम नहीं होता, मौलिक गुणों का नाश नहीं होता।

विकास या नयी जाति उत्पन्न होने का अर्थ है कि स्थितियों में परिवर्तन हो, वह हो सकता है। किन्तु तिर्यञ्च पशु, पक्षी या जल-जन्तु आदि से मनुष्य-जाति की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्राणियों की मौलिक जातियां पांच हैं। वे क्रम-विकास से उत्पन्न नहीं, स्वतंत्र हैं। पांच जातियां योग्यता की दृष्टि से क्रमश: विकसित हैं। किन्तु पूर्व-योग्यता से उत्तर-योग्यता सृष्ट या विकसित हुई, ऐसा नहीं। पंचेन्द्रिय प्राणी की देह से पंचेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होता है। वह पंचेन्द्रिय ज्ञान का विकास पिता से न्यून या अधिक पा सकता है। पर यह नहीं हो सकता है कि वह किसी चतुरिन्द्रिय से उत्पन्न हो जाए या किसी चतुरिन्द्रिय को उत्पन्न कर दे। सजातीय से उत्पन्न होना और सजातीय को उत्पन्न करना, वह गर्भज प्राणियों की निश्चित मर्यादा है।

विकासवाद जाति-विकास नहीं, किन्तु जाति-विपर्यास मानत है। उसके अनुसार इस विश्व में तप्त पदार्थ चारों ओर भरे पड़े थे, जिनकी गति और उष्णता में क्रमश: कमी होते हुए, बाद में उनमें से सर्व ग्रहों और हमारी इस पृथ्वी की भी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार जैसे-जैसे हमारी यह पृथ्वी ठंडी होने लगी, वैसे-वैसे इस वायु-जलादि की उत्पत्ति हुई और उसके बाद वनस्पति की उत्पत्ति हुई। उद्भिद्-राज्य हुआ। उससे जीव-राज्य हुआ। जीव-राज्य का विकासक्रम इस प्रकार माना जाता है—पहले सरीसृप हुए, फिर पक्षी, पशु, बंदर और मनुष्य हुए।

डार्विन के इस विलम्बित 'क्रम-विकास-प्रसर्पणवाद' को विख्यात प्राणी तत्त्ववेत्ता डी. ब्राइस ने साभ्य—प्रिमरोज (इस पेड़ का थोड़ा-सा चारा हॉलैण्ड से लाया जाकर अन्य देशों की मिट्टी में लगाया गया। इससे अकस्मात् दो नयी श्रेणियों का उदय हुआ) के उदाहरण से असिद्ध ठहराकर 'प्लुतसञ्चारवाद' को मान्य ठहराया है, जिसका अर्थ है कि एक जाति से दूसरी उपजाति का जन्म आकस्मिक होता है, क्रमिक नहीं।

विज्ञान का सृष्टि-क्रम असत् से सत् (उत्पादवाद या अहेतुकवाद) है। यह विश्व कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुआ, इसका आनुमानिक कल्पनाओं के अतिरिक्त कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। डार्विन ने सिर्फ शारीरिक विवर्तन के आधार पर क्रम-विकास का सिद्धान्त स्थिर किया। शारीरिक विवर्तन में वर्णभेद, संहनन-भेद, संस्थान-भेद, लम्बाई-चौड़ाई का तारतम्य, ऐसे-ऐसे और भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूक्ष्म-स्थूल-भेद हो सकते हैं। ये पहले भी हुआ करते थे और आज भी होते हैं। ये देश, काल, परिस्थिति के भेद से किसी विशेष प्रयोग के बिना भी हो सकते हैं और विशेष प्रयोग के द्वारा भी। 1791 ई. में भेड़ों के झुण्ड में अकस्मात् एक नयी जाति उत्पन्न हो गई। उन्हें आजकल 'अनेकन' भेड़ कहा जाता है। यह जाति-मर्यादा के अनुकूल परिवर्तन है जो यदा-कदा, यत्किंचित् सामग्री से हुआ करता है। प्रायोगिक परिवर्तन के नित-नये उदाहरण विज्ञान जगत् प्रस्तुत करता ही रहता है।

अभिनव जाति की उत्पत्ति का सिद्धान्त एक जाति में अनेक व्यक्ति प्राप्त भिन्नताओं की बहुलता के आधार पर स्वीकृत हुआ है। उत्पत्ति-स्थान और कुल-कोटि की भिन्नता से प्रत्येक जाति में भेद-बाहुल्य होता है। उन अवान्तर भेदों के आधार पर मौलिक जाति की सृष्टि नहीं होती। एक जाति उससे मौलिक भेद वाली जाति को जन्म देने में समर्थ नहीं होती। जो जीव जिस जाति में जन्म लेता है, वह उसी जाति में प्राप्त गुणों का विकास कर सकता है। जाति के विभाजक नियमों का अतिक्रमण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव स्वार्जित कर्म-पुद्गलों की प्रेरणा से जिस जाति में जन्म लेता है, उसी (जाति) के आधार पर उसे शरीर-संहनन, संस्थान, ज्ञान आदि का निर्णय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

बाहरी स्थितियों का प्राणियों पर प्रभाव होता है। किन्तु उनकी आनुवांशिकता में वे परिवर्तन नहीं ला सकती। प्रो. डार्लिंगटन के अनुसार—'जीवों की बाहरी परिस्थितियां प्रत्यक्ष रूप से उनके विकास-क्रम को पूर्णतया निश्चित नहीं करतीं। इससे यह साबित हुआ कि मार्क्स ने अपने और डार्विन के मतों में जो समान्तरता पायी थी, वह बहुत स्थायी और दूरगामी नहीं थी। विभिन्न स्वभावों वाले मानव प्राणियों के शरीर में बाह्य और आंतरिक भौतिक प्रभेद मौजूद होते हैं। उसके भीतर के भौतिक-प्रभेद के आधार को ही आनुवांशिक या जन्मजात कहा जाता है। इस भौतिक आंतरिक प्रभेद के आधारों का भेद ही व्यक्तियों, जातियों और वर्गों के भेदों के कारण होता है। ये सब भेद बाहरी अवयवों में होने वाले परिवर्तनों का ही परिणाम है। इन्हें जीवधारी देह के पहलुओं के सिवाय बाहरी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। आनुवांशिकता के इस असर को अच्छे भोजन, शिक्षा अथवा सरकार के किसी भी कार्य से चाहे वह कितना ही उदार या क्रूर क्यों न हो, सुधार या उन्नत करना कठिन है। आनुवांशिकता के प्रभाव को इस नये आविष्कार के बाद 'जेनेटिक्स का विज्ञान' कहा गया।

हमें दो श्रेणी के प्राणी दिखाई देते हैं। एक श्रेणी के गर्भज हैं, जो माता-पिता के शोणित, रज और शुक्र बिन्दु के मेल से उत्पन्न होते हैं। दूसरी श्रेणी के सम्मूर्च्छिम हैं जो गर्भाधान के बिना स्व-अनुकूल सामग्री के सान्निध्य मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय के जीव सम्मूर्च्छिम और तिर्यञ्च जाति के ही होते हैं। पंचेन्द्रय जीव सम्मूर्च्छिम और गर्भज दोनों प्रकार के होते हैं। इन दोनों (सम्मूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय) की दो जातियां हैं—1. तिर्यञ्च 2. मनुष्य।

तिर्यञ्च जाति के मुख्य प्रकार तीन हैं—

1. जलचर—मत्स्य आदि।
2. स्थलचर—गाय, भैंस आदि।
   क. उरपरिसृ प—रेंगने वाले प्राणी—सांप आदि।
   ख. भुजपरिसृ प—भुजा के बल परचलने वाले प्राणी—नेवला आदि इसी की उपशाखाएं हैं।
3. खेचर—पक्षी।

सम्मुर्च्छिम जीवों का जाति-विभाग गर्भ-व्यूत्क्रान्त जीवों के जाति-विभाग जैसा सुस्पष्ट और संबद्ध नहीं होता।

आकृति-परिवर्तन और अवयवों की न्यूनाधिकता के आधार पर जाति-विकास की जो कल्पना है, वह औपचारिक है, तात्त्विक नहीं। सेव के वृ क्ष की लगभग दो हजार जातियां मानी जाती हैं। भिन्न-भिन्न देश की मिट्टी में बोया हुआ बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधों के रूप में परिणत होता है। उनके फूलों और फलों में वर्ण, गंध, रस आदि का अंतर भी आ जाता है। 'कलम' के द्वारा भी वृ क्षों में आकस्मिक परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य शरीर पर भी विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देश में मनुष्य का रंग श्वेत होता है, उष्ण-प्रधान देश में श्याम। यह परिवर्तन मौलिक नहीं है। वैज्ञानिक परिवर्तन प्रयोगसिद्ध नहीं है। इसलिए जातिगत औपचारिक परिवर्तन के आधार पर क्रम-विकास की धारणा अधिक मूल्यवान नहीं बन सकती।

1.3.11 शारीरिक परिवर्तन का ह्रास या उल्टा क्रम

पारिपार्श्विक वातावरण या बाहरी स्थितियों के कारण जैसे विकास या प्रगति होती है, वैसे ही उसके बदलने पर ह्रास या पूर्व-गति भी होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस दिशा में सबसे आश्चर्यजनक प्रयोग है म्यूनिख की जन्तुशाला के डाइरेक्टर श्री हिंजहेक के, जिन्होंने विकासवाद की गाड़ी ही आगे से पीछे की ओर ढकेल दी है और ऐसे घोड़े पैदा किये हैं, जैसे कि पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व होते थे। प्रागैतिहासिक युग के इन घोड़ों को इतिहासकार 'टरपन' कहते हैं।

इससे जाना जाता है कि शरीर, संहनन, संस्थान और रंग का परिवर्तन होता है। उससे एक जाति के अनेक रूप बन जाते हैं, किन्तु मूलभूत जाति नहीं बदलती।

दो जातियों के प्राणियों के संग्राम से तीसरी एक नयी जाति पैदा होती है। उस मिश्र जाति में दोनों के स्वभाव मिलते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक भेद वाली उपजाति है। आत्मिक ज्ञानकृत जैसे ऐन्द्रियिक और मानसिक शक्ति का भेद उनमें नहीं होता। जाति-भेद का मूल कारण है—आत्मिक विकास। इन्द्रियां, स्पष्ट भाषा और मन, इनका परिवर्तन मिश्रण और काल-क्रम से नहीं होता। एक स्त्री के गर्भ में 'गर्भ-प्रतिबिम्ब' पैदा होता है,जिसके रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। आकृति-भेद की समस्या जाति-भेद में मौलिक नहीं है।

1.3.12 प्रभाव के निमित्त

एक प्राणी पर माता-पिता का, आसपास के वातावरण का, देश-काल की सीमा का, खान-पान का और ग्रहों-उपग्रहों का अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके जो निमित्त हैं उन पर जैन-दृष्टि का क्या निर्णय है—यह थोड़े में जानना है।

प्रभावित स्थितियों को वर्गीकृत कर हम दो मान लें—शरीर और बुद्धि। ये सारे निमित्त इन दोनों को प्रभावित करते हैं।

प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर का संयुक्त एक रूप होता है। प्रत्येक प्राणी को आत्मिक शक्ति का विकास और उसकी अभिव्यक्ति के निमित्तभूत शारीरिक साधन उपलब्ध होते हैं।

आत्मा सूक्ष्म शरीर का प्रवर्तक है और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर का। बाहरी स्थितियां स्थूल शरीर को प्रभावित करती हैं, स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर को और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर आत्मा को—इन्द्रिय, मन या चेतन वृत्तियों को।

शरीर पौद्गलिक होते हैं—सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म वर्गणाओं का संगठन होता है और स्थूल शरीर स्थूल वर्गणाओं का।

1. आनुवांशिक समानता का कारण है=वर्गणा का साम्य। जन्म के आरंभ काल में जीव जो आहार लेता है, वह उसके जीवन का मूल आधार होता है। वे वर्गणाएं मातृ -पितृ सात्म्य होती हैं, इसलिए माता और पिता का उस पर प्रभाव होता है। संतान के शरीर में मांस, रक्त और मस्तुलुंग (भेजा)=ये तीन अंग माता के हाड, मज्जा और केश-दाढ़ी; रोम-नख=ये तीन अंग पिता के होते हैं। वर्गणाओं का साम्य होने पर भी आंतरिक योग्यता समान नहीं होती। इसलिए माता-पिता से पुत्र की रुचि, स्वभाव, योग्यता भिन्न भी होती हैं।यही कारण है कि माता-पिता के गुण-दोषों का संतान के स्वास्थ्य पर जितना प्रभाव पड़ता है,उतना बुद्धि पर नहीं पड़ता।
2. वातावरण भी पौद्गलिक होता है। पुद्गल पुद्गल पर असर डालते हैं। शरीर, भाषा और मन की वर्गणाओं के अनुकूल वातावरण की वर्गणाएं होती हैं, उन पर उनका अनुकूल प्रभाव होता है और प्रतिकूल दशा में प्रतिकूल। आत्मिक-शक्ति विशेष जागृत हो तो इसमें अपवाद भी हो सकता है। मानसिक शक्ति वर्गणाओं में परिवर्तन ला सकती है। कहा भी है—

   'चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
   तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे बुद्धयो यान्ति नाशम्।'

   —यह धातुबद्ध शरीर चित्त के अधीन है। स्वस्थ चित्त में बुद्धि की स्फुरणा होती है। इसलिए चित्त को स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त नष्ट होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि पवित्र और बलवान् मन पवित्र वर्गणाओं को ग्रहण करता है, इसलिए बुरी वर्गणाएं शरीर पर बुरा असर नहीं डाल सकतीं।
3. खान-पान और औषधि का असर भी भिन्न-भिन्न प्राणियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसका कारण भी उनके शरीर की भिन्न वर्गणाएं हैं। वर्गणाओं के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य और तरतमभाव होता है।। एक ही रस का दो व्यक्ति दो प्रकार का अनुभव करते हैं। यह उनका बुद्धि-दोष या अनुभव-शक्ति का दोष नहीं किन्तु इस भेद का आधार उनकी विभिन्न वर्गणाएं हैं। अलग-अलग परिस्थिति में एक ही व्यक्ति को इस भेद का शिकार होना पड़ता है।खान-पान, औषधि आदि का शरीर के अवयवों पर असर होता है। शरीर के अवयव इन्द्रिय, मन और भाषा के साधन होते हैं, इसलिए जीव की प्रवृ त्ति के ये भी परस्पर कारण बनते हैं। ये बाहरी वर्गणाएं आंतरिक योग्यता को सुधार या बिगाड़

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं सकतीं और न बढ़ा-घटा सकती हैं। किन्तु जीव की आंतरिक योग्यता की साधनभूत आंतरिक वर्गणाओं में सुधार या बिगाड़ ला सकती हैं। यह स्थिति दोनों प्रकार की वर्गणाओं के बलाबल पर निर्भर है।

4. ग्रह-उपग्रह से जो रश्मियां निकलती हैं, उनका भी शारीरिक वर्गणाओं के अनुसार अनूकूल या प्रतिकूल प्रभाव होता है। विभिन्न रंगों के शीशों द्वारा सूर्य-रश्मियों को एकत्रित कर शरीर पर डाला जाए तो स्वास्थ्य या मन पर उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाएं होती हैं। संगठित दशा में हमें तत्काल उनका असर मालूम पड़ता है। असंगठित दशा और सूक्ष्म रूप में उनका जो असर हमारे ऊपर होता है, उसे हम पकड़ नहीं सकते।

ज्योतिर्विद्या में उल्का की ओर योग-विद्या में विविध रंगों की प्रतिक्रिया भी उनकी रश्मियों के प्रभाव से होती है। यह बाहरी असर है। अपनी आंतरिक वृत्तियों का भी अपने पर प्रभाव पड़ता है। ध्यान या मानसिक एकाग्रता से चंचलता की कमी होती है, आत्म-शक्ति का विकास होता है। मन की चंचलता से जो शक्ति बिखर जाती है, वह ध्यान से केन्द्रित होती है। इसीलिए आत्म-विकास में मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का बड़ा महत्त्व है।

मानसिक अनिष्ट-चिन्तन से प्रतिकूल वर्गणाएं गृ हीत होती हैं, उनका स्वास्थ्य पर हानिजनक प्रभाव होता है। प्रसन्न दशा में अनुकूल वर्गणाएं अनुकूल प्रभाव डालती हैं।

क्रोध आदि वर्गणाओं की भी ऐसी ही स्थिति है। ये वर्गणाएं समूचे लोक में भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट अलग-अलग ढंग की होती है और उसके अनुसार ही ये निमित्त बनती हैं।

1.4 सारांश -इस प्रकार हमने इस पाठ में विश्व के बारे में जैन चिन्तकों की मौलिक दृष्टि को जाना।

1.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैन चिन्तन में विश्व के स्वरूप पर सर्वांगीण दृष्टि से प्रकाश डालें। अथवा
   विश्व के विकास और ह्रास को सरल शब्दों में समझायें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. विश्व-स्थिति के मूल सूत्र कौन-कौन से हैं? अथवा
   लोक स्थिति को स्पष्ट करें।
2. लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों कैसे?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'लोक' 'अलोक' से आप क्या समझते हैं?
2. लोक पहले या अलोक पहले?
3. अखण्ड आकाश को दो भागों में बांटने वाले तत्त्व कौन से हैं?
4. लोक और अलोक का परिमाण कितना है?
5. सम्पूर्ण लोक का आकार किस प्रकार का है?
6. लोक कितना लम्बा (ऊंचा) है?
7. सापेक्षवाद के आधार पर लोक का व्यास कितना है?
8. परिवर्तन का क्या अर्थ है?
9. जीव अलोक में क्यों नहीं जाता?
10. अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का आकार क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 2

सृष्टिवाद

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 सृष्टि बनाम व्यंजन पर्याय
2.2 सृष्टिवाद और विभिन्न दर्शन
2.3 सृष्टि का मूल हेतु
2.4 सारांश
2.5 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

बहुत प्राचीनकाल से कुछ जिज्ञासाएं मनुष्य के मस्तिष्क में उभरती रही हैं, प्रश्न पूछे जाते रहे हैं और समाधान खोजा जाता रहा है। प्रश्न है—विश्व किसने बनाया? यह विश्व किससे बना? कब बना? कैसे बना? मूल तत्त्व क्या है? वह तत्त्व क्याहै, जो निरन्तर परिवर्तन में अपरिवर्तित रहता है? यह प्राणी जगत् कब से है? यह मनुष्य कब से है? ये प्रश्न मानव में उभरते रहते हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा, अपनी अंतर्दृष्टि के द्वारा इन प्रश्नों का समाधान खोजता रहा है। जैनदर्शन ने भी इनका समाधान खोजा। एक साथ खोजा या धीमें-धीमें खोजा, यह विचार के इतिहास का विषय है किन्तु जैनदर्शन में इनका समाधान खोजा गया है।

पहला प्रश्न है—यह विश्व किसने बनाया?

जैनदर्शन ने इसका समाधान दिया—विश्व को बनाने वाला कोई नहीं है।

दूसरा प्रश्न—यह विश्व किससे बना?

जीव और अजीव—ये दो तत्त्व हैं। इन दो तत्त्वों से यह विश्व बना है।

तीसरा प्रश्न है—यह विश्व कब बना?

इसका कोई अता-पता नहीं है। इसका आदि बिन्दु निकाला नहीं जा सकता। इसलिए नहीं निकाला जा सकता कि इस विश्व में जितने तत्त्व पहले थे, उतने ही हैं, उतने ही रहेंगे। जीव और अजीव में से एक भी तत्त्व, एक भी अणु न नया जन्म लेता है और न पुराना नष्ट होता है। जितना था, उतना है और उतना ही रहेगा। अतीत में जितने पदार्थ थे वर्तमान में भी वे हैं और अनन्त भविष्य में भी वे पदार्थ बराबर बने रहेंगे। वे न कम होंगे न अधिक। इसलिए विश्व कब बना? इस प्रश्न का कोई उत्तर दर्शन जगत् के पास नहीं है और इसका आदि बिन्दु खोजा भी नहीं जा सकता।

चौथा प्रश्न है—विश्व कैसे बना?

जीव और अजीव का संयोग होता रहता है और उस संयोग ने इस सृष्टि का निर्माण किया है। प्रश्न होता है—दूध कैसे बना? गाय ने घास खाई और दूध बन गया। जितना विकास है यह सारा यौगिक है। उसमें जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों का योग है। इन दो का योग मिलता रहता है और वह गुणित होता चला जाता है। दो से चार, चार से आठ और आठ और सोलह—इस प्रकार वह गुणित होता चला जाता है।

पांचवां प्रश्न है—मूल तत्त्व क्या है?

जीव और अजीव—ये दो मूल तत्त्व हैं।

छठा प्रश्न है—सृष्टि क्या है?

जीव और अजीव के संयोग का परिणाम सृष्टि है। जब इन दो तत्त्वों का विविध रूपों में योग होता है तो विविध पदार्थों का सृजन होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.1 उद्देश्य–प्रस्तुत पाठ में विश्व अथवा सृष्टि के विषय में जैन चिन्तन को प्रस्तुत किया जा रहा है। सामान्यत: विश्व और सृष्टि दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैनदर्शन में दोनों के बीच अंतर माना गया है। विश्व उन तत्त्वों की समष्टि का नाम है जिनकी न कभी उत्पत्ति होती है और न कभी विनाश। ऐसे तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। सृष्टि उन तत्त्वों की समष्टि को कहा जाता है जो उत्पत्ति और विनाश के चक्र से गुजरते हैं। जो जीव और अजीव के संयोग से अस्तित्व में आते हैं; जैसे—शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी, पर्वत, सागर आदि। प्रस्तुत पाठ में इन सभी तथ्यों की चर्चा की जा रही है।

2.2 सृष्टि बनाम व्यञ्जन पर्याय

जगत् का जितना विस्तार है, वह जीव और अजीव के संयोग से हुआ है। उस विस्तार की शक्ति का नाम है व्यंजन पर्याय। पर्याय दो प्रकार का होता है—स्वभाव पर्याय और व्यंजन पर्याय। प्रत्येक पदार्थ में जो अपना-अपना परिणमन होता रहता है, वह है व्यंजन पर्याय। दो का योग मिला, हाइडोजन-ऑक्सीजन मिली, पानी बन गया। पानी कोई मूल तत्त्व नहीं है। पानी यौगिक है। जितने द्रव्य यौगिक हैं, वे संयोग से मिलते हैं और बनते चले जाते हैं। सारा सृजन दो तत्त्वों के योग से हो रहा है। वे दो तत्त्व कहीं जीव और अजीव और कहीं दो जड़ द्रव्यों के रूप में हैं।

हमारे जगत् का जो विस्तार है, वह यौगिक विस्तार है। मूल तत्त्व बहुत सीमित हैं। किन्तु इनका विस्तार इतना हो गया है कि नाना द्रव्य दिखाई दे रहे हैं। प्रश्न होता है—मकान क्या है? वह कोई मूल द्रव्य नहीं है। ईंट, पत्थर, सीमेंट, लोहा—इनका योग मिला और मकान खड़ा हो गया। यह मिट्टी क्या है? यह पृथ्वी क्या है? कुछ प्राणी और कुछ पुद्गल मिले, मिट्टी का निर्माण हो गया। यह जल क्या है? कुछ प्राणी और कुछ परमाणु स्कन्ध मिले, जल का निर्माण हो गया। यह अग्नि क्या है? कुछ प्राणी और कुछ परमाणु स्कन्ध मिले, अग्नि का निर्माण हो गया। हवा क्या है? कुछ प्राणी और कुछ पुद्गलों का योग है। यह वनस्पति जगत् क्या है? इसका उत्तर यही है। कुछ जीव और कुछ पुद्गल मिले, इतना बड़ा वनस्पति जगत् बन गया। यह त्रस जगत्—कीड़े-मकोड़ों से लेकर मनुष्य तक क्या है? यह भी यौगिक ही है। जीव मिला और कुछ पुद्गल मिला, एक कीड़ा बन गया, एक पक्षी बन गया। एक पशु बन गया और एक आदमी बन गया। मूल द्रव्य कोई नहीं है, सब यौगिक हैं। कहना चाहिए—जितना दिखाई दे रहा है और जो दृश्य जगत है, वह सारा का सारा जीव और पुद्गल का यौगिक स्वरूप है। न कोई शुद्ध जीव है और न कोई शुद्ध पुद्गल। यदि पुद्गल है तो वह जीव द्वारा छोड़ा हुआ पुद्गल है। सूक्ष्म पुद्गल हमें दिखाई नहीं देता।

कुछ दार्शनिकों ने माना—विश्व की रचना का मूल तत्त्व है पंचभूत। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश—इन पांच महाभूतों से सृष्टि का निर्माण हुआ है। जैनदर्शन ने पांच भूतों को स्वीकृति नहीं दी। उसके अनुसार जीव और अजीव—इन दो के योग से सृष्टि का निर्माण हुआ है। इस योग में पृथ्वी भी है, पानी भी है, अग्नि भी है और वायु भी है किन्तु आकाश अलग पड़ जाता है। आकाश एक स्वतंत्र द्रव्य है। वह इन चारों के साथ में नहीं आता, वह यौगिक नहीं है।

सारा संसार पुद्गलों और जीवों के योग से बनता है। दोनों का योग मिला और व्यंजन पर्याय घटित हो गया। व्यंजन पर्याय यानि प्रगट होने वाला पर्याय। गाय ने घास खाई और दूध बन गया, वह व्यंजन पर्याय है। प्रश्न हुआ—दूध कहां से आया? क्या दूध का अस्तित्व गाय में है? क्या दूध का अस्तित्व घास में है? अगर गाय में है तो घास कभी दूध नहीं देगा। उसका अस्तित्व न गाय में है और न घास में है किन्तु दोनों के योग में है। गाय और घास—दोनों का योग मिला और एक नया पर्याय बन गया। दूध हमारे सामने प्रस्तुत हो गया। ऐसे नाना प्रकार के योग बनते हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती। असंख्य योग बनते हैं और असंख्य पदार्थ बनते चले जाते हैं।

द्रव्यानुयोग में कहा गया है—

गुणपर्याययो: शक्तिर्मात्रिमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्ति: समुचित परा ॥

ज्ञानमाना तृ णत्वेनाज्यशक्तिरनुमानत:।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा ॥

प्राक् पुद्गलपरावर्ते धर्मशक्तिर्यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्ति: समुचितांगिनाम् ॥

कार्यभेदाच्छक्तिभेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक्निश्चयनयादेकमनेकै: कार्यकारणै: ॥

स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुणपर्यायव्यक्तय:।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.3 सृष्टिवाद और विभिन्न दर्शन

विश्व के बारे में दर्शन की दो मुख्य धाराएं हैं—अद्वैतवाद और द्वैतवाद। अद्वैतवादी दार्शनिक चेतन और अचेतन का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते। वे अचेतन या चेतन में से किसी एक के अस्तित्व को ही वास्तविक मानते हैं। सृष्टि के विषय में अद्वैतवाद की तीन मुख्य शाखाएं हैं—1. जड़ाद्वैतवाद 2. चैतन्याद्वैतवाद 3. जड़-चैतन्याद्वैतवाद।

जड़ाद्वैतवाद के अनुसार चेतन तत्त्व की उत्पत्ति अचेतन तत्त्व से हुई है। अनात्मवादी चार्वाक और क्रम-विकासवादी वैज्ञानिक इसी अभिमत के समर्थक हैं। चैतन्याद्वैत के अनुसार सृष्टि का आदि-कारण ब्रह्म है। वैदिक ऋषि कहता है—'असत्, अभाव, शून्य में निरस्त समस्त समाज औपधिक नाम-रूप-रहित अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सत्भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपंच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपंच में सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पंच महाभूत निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पांचों महाभूत समस्त कार्यों में विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं महाभूतों में—पीपल के बीज में पीपल के वृक्ष की तरह वर्तमान रहती है।'

ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने सोचा—'किस प्रकार मैं इन लोगों में पैठूं?' तब वह नाम और रूप से इन लोगों में पैठा।'

जड़चैतन्याद्वैत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति चेतन और अचेतन—इन दोनों गुणों से मिश्रित पदार्थ से हुई है।

जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—'ये दोनों कारण के अनुरूप कार्य होता है'—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य—दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य का नाम सृष्टि है। नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरंभवादी हैं। सृष्टि के प्रारंभ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, इनके संयोग का आरंभ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए यह 'आरंभवाद' कहलाता है।

सांख्य और योग परिणामवादी हैं। उनके अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुण-परिणामवाद और ब्रह्म-परिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है। वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं। फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप में परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

जैन और बौद्ध दर्शन वस्तुत: सृष्टिवादी नहीं है। वे परिवर्तनवादी हैं। इनकी दृष्टि में परिवर्तन ही सृष्टि है।

बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु संतति प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सांयोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं होता।

जैनदृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसी में समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति है जो चेतन और अचेतन-पुद्गल के विविध-जातीय संयोग से स्वयं प्रकट होती है।

जैनदर्शन जगत् के बारे में वैदिक ऋषि की भांति संदिग्ध भी नहीं है। वैदिक ऋषि कहता है—'उस समय प्रलय दशा में असत् भी नहीं था। सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।'

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहां से सृष्टि हुई वह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टियां कहां से हुईं? किसने सृष्टियां कीं और किसने नहीं कीं?—ये सब वे ही जानें, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हों, जैसा कि ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इन तथ्यों को इस भाषा में अभिव्यक्त किया गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'नासदासीन्नोसदासोत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।'
'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः॥'
अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद मत आबभूव।'
'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।'
'यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्तसो अंग वेद यदि वा न वेद।'

जैन दर्शन के अनुसार चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। दोनों अनादि-अनन्त हैं। विभिन्न दर्शन और दृश्य-जगत् के कारणों को संक्षेप में निम्नांकित टेबल से जाना जा सकता है।

वाद	**दृश्य जगत् का कारण**
जड़ाद्वैतवाद	जड़पदार्थ
जड़चैतन्याद्वैतवाद	जड़-चैतन्ययुक्त पदार्थ
चैतन्याद्वैतवाद (विवर्तवाद)	ब्रह्म
आरंभवाद	परमाणु-क्रिया
परिणामवाद	प्रकृति
अव्याकृत (कहा नहीं जा सकता)	प्रतीत्यसमुत्पादवाद
सापेक्ष सादि-सांतवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय

सातवां प्रश्न है—क्या यह यौगिक जगत् बदलता ही रहता है?

कहा गया—ऐसा नहीं है। निरन्तर परिवर्तन के बीच भी एक तत्त्व ऐसा है, जो अपरिवर्तित रहता है। जीव और अजीव—दोनों में परिवर्तन का चक्र चल रहा है किन्तु दोनों के बदलाव में एक न बदलने वाला तत्त्व भी बैठा है। जैनदर्शन में तीन तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है और ध्रुव भी रहता है। एक ध्रुव तत्त्व ऐसा है, जो उत्पाद और व्यय के बीच में बैठा है। वैदिक दर्शनों ने सृष्टि का उत्पाद और लय माना। सृष्टि की उत्पत्ति होती है ओर उसका लय होता है मूल कारण में। मूल कारण है ईश्वर या ब्रह्म। वह स्थायी रहता है। अगर हम कल्पना को निकट लायें तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा उत्पत्ति, लय या ईश्वर को एक दृष्टि से देख सकते हैं। आठवां प्रश्न है—यह पृथ्वी कब से बनी? जब से जीव और अजीव का अस्तित्व है तब से पृथ्वी का अस्तित्व है। हमारा सौरमण्डल कितना बड़ा है? हमारी निहारिकाएं कितनी बड़ी हैं? जो सौरमण्डल दिखाई दे रहा है, जो निहारिकाएं दिखाई दे रही हैं ऐसी असंख्य-असंख्य निहारिकाएं और असंख्य सौरमण्डल इस जगत् में विद्यमान हैं। विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकृति दे रहा है। एक ग्रह से दूसरे ग्रह के बीच की दूरी दो करोड़ अरब या खरब प्रकाश वर्ष है। एक प्रकाश वर्ष कितना बड़ा होता है। इतना विराट है हमारा यह ब्रह्माण्ड, जगत् या विश्व। इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, पृथ्वी भी बदलती रहती है। आकाश अटल रहता है, वह कभी बनता या बिगड़ता नहीं है। वह अपने स्वभाव में बदलता है, किन्तु बाहर में नहीं बदलता।

प्राणी जगत् भी बदलता रहता है। एक समय इस पृथ्वी पर जिन प्राणियों का साम्राज्य था, वह समाप्त हो गया। दो करोड़ वर्ष, चार करोड़ वर्ष पहले जिन प्राणियों का साम्राज्य था, आज उन प्राणियों का अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया। दूसरे प्राणी, प्राणियों की जातियां और प्रजातियां बदलती रहती हैं। प्राणियों का अस्तित्व भी बदलता रहता है। आकार भी एक समान नहीं रहता। आज आदमी का जो आकार है, क्या पहले भी वही आकार था? कहना कठिन है। वह बहुत बदला है, उसमें इतना परिवर्तन आया है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आगम साहित्य में ऐसे-ऐसे प्राणियों-मनुष्यों का उल्लेख है, जिनका मुंह घोड़े जैसा होता था और जिनके पूंछ भी होती थी। आज यह माना जाता है—बंदर के पूंछ होती है पर जैनागमों में छप्पन अन्तर्द्वीप के मनुष्यों का जो वर्णन उपलब्ध होता है, वह बहुत विचित्र है। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य सदा इसी रूप में था। उसके आकार-प्रकार बदले हैं, रूप बदले हैं। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श भी बदलते रहे हैं। इस स्थिति में एक जैसा होने की बात कठिन है। प्राणी जगत् भी बदला है और मनुष्य भी बदला है।

जब से इस पृथ्वी का अस्तित्व है, जीव और पुद्गल का संयोग है, तब से प्राणी जगत् का अस्तित्व है, मनुष्य का अस्तित्व है। उसमें परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। विज्ञान के अनुसार प्दार्थ का निर्माण मौलिक्यूल से होता है और मौलिक्यूल का निर्माण परमाणुओं के संयोग से होता है। जैनदर्शन में वस्तु की उत्पत्ति के दो प्रकार बतलाए गए हैं—संघात (मिलना) और भेद। परमाणुओं का संघात (मिलन) होने से भी वस्तु उत्पन्न होती है और स्कन्ध टूटने से भी वस्तु उत्पन्न होती है। परिणाम दो प्रकार के हैं—सादि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पारिणामिक और अनादि पारिणामिक। अनादि पारिणामिक में किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता और जो हैं उनका विलोप नहीं होता। जो हैं, वे रहेंगे। जितने हैं, उतने ही रहेंगे। सादि पारिणामिक में नए रूपों का निर्माण होता है और पुराने रूपों का विध्वंस। अनादि पारिणामिक को विश्व या लोक तथा सादि पारिणामिक को सृष्टि कहा जा सकता है।

2.3 सृष्टि का मूल हेतु

सृष्टि और सादि पारिणामिक का मूल हेतु है पुद्गल-वर्गणा। वर्गणा का अर्थ समान जातीय पुद्गलों का वर्ग। मूल वर्गणाएं आठ हैं—1. औदारिक वर्गणा 2. वैक्रिय वर्गणा 3. आहारक वर्गणा 4. तैजस् 5. कार्मण वर्गणा 6.श्वासोच्छवास वर्गणा 7. भाषा और 8. मनो वर्गणा।

धवला में वर्गणा के तेईस प्रकार बतलाए गए हैं। विशेषावश्यक भाष्य में वर्गणाओं के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रकार बतलाए गए हैं। एक गुण कृष्ण वर्ण वाले परमाणु अथवा स्कन्ध की एक वर्गणा (group) होती है। दो गुण कृष्ण वर्ण वाले परमाणु अथवा स्कन्ध की एक वर्गणा होती है। इस प्रकार तीन, चार, संख्येय, असंख्येय से लेकर अनन्त परमाणु अथवा स्कन्ध की एक-एक वर्गणा होती है। इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श—इन सबके अनन्त-अनन्त विकल्प बन जाते हैं। औदारिक शरीर की वर्गणा में एक परमाणु की कमी अथवा एक परमाणु अधिक हो तो औदारिक शरीर के निर्माण में उसका उपयोग नहीं हो सकता। इन पुद्गल वर्गणाओं से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—इन एक इन्द्रिय वाले जीवों के शरीर का निर्माण होता है। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के शरीर का निर्माण होता है। इन वर्गणाओं में कुछ स्थूल होती हैं और कुछ सूक्ष्म। आचार्य कुन्दकुन्द ने इन वर्गणाओं के पुद्गल स्कन्ध के छह विकल्प बतलाए हैं—1. अति-स्थूल 2. स्थूल 3. स्थूल-सूक्ष्म 4. सूक्ष्म-स्थूल 5. सूक्ष्म 6. अतिसूक्ष्म। इन्हीं पुद्गल स्कन्धों से स्थूल व सूक्ष्म भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे—

1. अति-स्थूल का उदाहरण है-पृथ्वी।उसका छेदन भेदन किया जा सकता है, उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।
2. स्थूल का उदाहरण है-जल। उसका छेदन भेदन नहीं किया जा सकता। किन्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।
3. स्थूल-सूक्ष्म का उदाहरण है=छाया। उसका न छेदन-भेदन किया जा सकता है और न उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है किन्तु उसे आंखों से देखा जा सकता है।
4. सूक्ष्म स्थूल का उदाहरण है आंखों के सिवाय शेष चार इन्द्रियों के ज्ञेय विषय। उदाहरणार्थ=शब्द, गंध आदि।
5. सूक्ष्म का उदाहरण हैं कर्म वर्गणा के स्कंध।
6. अति सूक्ष्म का उदाहरण है परमाणु।

2.4 सारांश- विज्ञान के अनुसार पदार्थ कणात्मक और ऊर्जा तरंगात्मक है। कभी कण का ऊर्जा में और ऊर्जा का कण में परिवर्तन हो जाता है। जैनदर्शन के अनुसार कण (अथवा स्कन्ध) पुद्गल का एक पर्याय भी है इसलिए उनमें परिवर्तन संभव है। प्रत्येक द्रव्य में एक निश्चित अवधि के बाद परिवर्तन अवश्य होता है। कोई निमित्त मिलता है तो प्रायोगिक परिवर्तन होता है। कोई निमित्त न मिले तो वह परिवर्तन स्वाभाविक होता है। यह परिवर्तन का नियम सार्वभौम है। इसलिए नई-नई वस्तुओं की उत्पत्ति होती रहती है।

2.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. विविध जिज्ञासाओं के संदर्भ में जैनदर्शन सृष्टि के चिन्तन को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. यह जगत् क्या है?
2. विश्व कैसे बना?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (एक पंक्ति में उत्तर दें)

1. विश्व को किसने और कब बनाया?
2. विश्व के मूल तत्त्व कितने और कौनसे हैं?
3. उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की तुलना वैदिक दर्शन की किन अवधारणाओं से की जा सकती है?
4. सादि परिणाम और अनादि परिणाम क्या है?
5. विश्व और सृष्टि में क्या अंतर है?
6. सृष्टि का मूल क्या है?
7. वर्गणाएं कितनी और कौन-कौन सी हैं?
8. धवला और विशेषावश्यक भाष्य में वर्गणा के कितने प्रकारों की चर्चा है?
9. 'वर्गणा' शब्द का क्या अर्थ है?
10. आचार्य कुन्दकुन्द ने स्कन्ध के कौन से विकल्प प्रस्तुत किये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

इकाई : 3

जगत और ईश्वर

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 जगत और ईश्वर
3.3 जगत् एक दृष्टिकोण अनेक
3.4 ईश्वरवादी/अनीश्वरवादी
3.5 जीव और जड़ का सह-अस्तित्व
3.6 अहिंसा और मैत्री का आधार द्वैतवाद
3.7 जगत और हमारा अस्तित्व
3.8 सारांश
3.9 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

हम जिस जगत में जी रहे हैं, वह आज भी रहस्य बना हुआ है। रहस्य को अनावृत करने के लिए अनेक दार्शनिकों ने अनेक प्रकार के चिन्तन किए और अपने-अपने चिन्तन प्रस्तुत किए। जैनदर्शन ने अपना चिन्तन प्रस्तुत किया—जगत के विषय में भी और हमारे अस्तित्व के विषय में भी। वे दोनों विषय जानने योग्य हैं तथा तार्किक और दार्शनिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं। जहां जगत् का प्रश्न है वहां ईश्वर का प्रश्न अपने आप जुड़ जाता है और इसलिए जुड़ता है कि जगत कब बना, किसने बनाया और कैसे बनाया? ये तीन प्रश्न जगत के बारे में प्रस्तुत किए। इस विषय में जैनदर्शन का चिन्तन रहा कि यह जगत अकृत्रिम है। किसी ने बनाया नहीं। कभी बना नहीं। कैसे बना, इसका प्रश्न ही समाप्त। यह अनादिकाल से है। न इसका आदि है और न इसका अंत। बात समाप्त हो जाती है। यह चिन्तन इसलिए प्रस्तुत किया गया कि जगत को कृत मानें तो बहुत सारी समस्याएं पैदा होती हैं। ऐसे जटिल प्रश्न पैदा होते हैं, जिनका समाधान कोई दीखता नहीं है।

3.1 उद्देश्य-इस पाठ में हम जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध को समझने के साथ-साथ जगत और अपने अस्तित्व के सम्बन्ध को जानने का प्रयास करेंगे।

3.2 जगत और ईश्वर

यदि किसी ने जगत को बनाया तो जगत अलग हो गया और जगत को बनाने वाला अलग हो गया। जगत अलग, कर्ता अलग। अलग आया कहां से? वह जगत में है या अजगत में? अगर बनाने वाला जगत में नहीं है तो फिर दो जगत बन गए। एक कोई वैसा जगत है, जिसमें यह जगत नहीं है। बहुत बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। फिर ईश्वर की प्रकृति और जगत की प्रकृति की साम्यता भी नहीं है। ईश्वर तो है चेतन और जगत में अचेतन भी है। दोनों की प्रकृति साम्य नहीं है। फिर अचेतन आया कहां से? जगत आया कहां से? कहीं बाहर से कुछ लाकर बनाया या अपने भीतर से बनाया। अगर अपने भीतर से बनाया तो बनाया नहीं बल्कि विस्तार हुआ फिर तो ईश्वर का विस्तार जगत है, न कि ईश्वर की कृति जगत है। कृति नहीं, विस्तार हो गया। अगर कृति माना जाए तो ईश्वर बाहर से कोई कच्चा माल लाया होगा और लाकर बनाया होगा। कुम्हार घड़ा बनाता है, तो खदान से मिट्टी लाता है, फिर घड़ा बनाता है। तो ईश्वर भी कच्चा माल कहां से लाया, जिससे कि जगत बनाया। क्यों बनाया? प्रयोजन क्या? प्रयोजन की भी बड़ी समस्या है। आज तक भी दार्शनिक चर्चा में, प्रयोजन के बारे में कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया जा सकता कि ईश्वर ने जगत को क्यों बनाया? जो प्रयोजन बताए गए, वे ऐसे हैं कि जिन पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। प्रयोजन का भी जटिल प्रश्न है।

3.3 जगत् एक दृष्टिकोण अनेक

जैन दार्शनिकों ने दो-तीन दृष्टिकोणों से जगत की व्याख्या की है। एक व्याख्या है द्वैतवादी व्याख्या। जीव और अजीव, चेतन और अचेतन, इसका नाम है जगत।

दूसरी व्याख्या है—पंचास्तिकाय का नाम है जगत। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन पांच तत्त्वों की समष्टि का नाम जगत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तीसरी व्याख्या है—छह द्रव्य का नाम है जगत। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, पुद्गल, जीव—ये पांच अस्तिकाय और एक काल—ये छह द्रव्य हैं। इनका नाम है जगत। हम जो देख रहे हैं, वह इसका विस्तार है। इनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश—ये तीन हमें दिखाई नहीं देते। जगत का मतलब यह नहीं कि जो दिखाई देता है, वह जगत है। न दिखाई देने वाला भी जगत है। जीव और पुद्गल—ये दोनों एक साथ जुड़े हुए हैं, मिले हुए हैं, इसलिए हमें दिखाई दे रहे हैं। जीव भी दिखाई देता है और पुद्गल भी दिखाई दे रहे हैं। जीव का मूल रूप हमें दिखाई नहीं देता और पुद्गल का भी मूल रूप हमें नहीं दिखाई देता। पुद्गल का मूल रूप है परमाणु। परमाणु हमें दिखाई नहीं देता। क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। वह अतीन्द्रिय विषय है, सूक्ष्म है। आत्मा का शुद्ध रूप अमूर्त्त है। वह हमें दिखाई नहीं देता। हम क्या हैं? हमारा अस्तित्व क्या है? इस जगत में जो है, वह है पुद्गल के साथ समझौता किया हुआ हमारा व्यक्तित्व। हम न तो आत्मा है और न पुद्गल। दोनों नहीं हैं। हम एक समझौतावादी व्यक्तित्व हैं। यह है हमारी परिभाषा।

3.4 ईश्वरवादी/अनीश्वरवादी

जैनदर्शन ईश्वरवादी है और नहीं भी। जैनदर्शन परमात्मा को स्वीकार करता है। ऐसे शुद्ध आत्मा को स्वीकार करता है, जिसके साथ शरीर नहीं है, वह ईश्वर है। इस अर्थ में जैनदर्शन ईश्वरवादी है। किन्तु ईश्वर जगत का कर्ता है, इसे जैनदर्शन स्वीकार नहीं करता। इस अर्थ में जैनदर्शन अनीश्वरवादी है। इस प्रकार यह ईश्वरवादी भी है और अनीश्वरवादी भी है, दोनों है।

हम ईश्वर भी हैं, अनीश्वर भी हैं। इसलिए कि जो हमारा शरीर दिखाई दे रहा है, उस शरीर में आत्मा है और वह आत्मा है, जिसमें परमात्मा बनने की क्षमता है, योग्यता है। इसलिए हम स्वयं ईश्वर हैं। हमारे भीतर वह बीज है, जिसे बोया जाए, उर्वर भूमि हो और उचित वर्षा हो, सूर्य का प्रकाश, वायु अच्छी तरह मिले तो वह वटवृक्ष बन सकता है। हमारे भीतर चेतना का वह बीज है, जो परमात्मा या ईश्वर बन सकता है। किन्तु आज हम ईश्वर नहीं हैं। आज हम परमात्मा नहीं हैं। शुद्ध आत्मा भी नहीं हैं। हमारा मिला-जुला साम्राज्य है, मिला-जुला व्यक्तित्व है। इस अर्थ में हम अनीश्वर हैं।

3.5 जीव और जड़ का सह-अस्तित्व

एक आदमी बोलता है, वह क्यों बोलता है। आत्मा बोलती है या पुद्गल बोलता है? पुद्गल कभी बोलता नहीं, आत्मा भी कभी बोलती नहीं है। जब आत्मा और पुद्गल दोनों का योग होता है और एक प्राणशक्ति पैदा होती है, वह प्राण-शक्ति बोलती है। एक आदमी सोचता है। आत्मा तो सोचती नहीं। आत्मा के मन नहीं होता। न पुद्गल सोचता है। जब आत्मा और शरीर दोनों मिलते हैं, प्राणशक्ति पैदा होती है, वह प्राणशक्ति सोचती है।

आत्मा भी नहीं खाता और पुद्गल भी नहीं खाता। आदमी खाता है। आदमी श्वास लेता है। आत्मा श्वास नहीं लेती, पुद्गल भी श्वास नहीं लेता। जब दोनों का योग होता है तो प्राणशक्ति के द्वारा श्वास लिया जाता है, भोजन किया जाता है। हमारा व्यक्तित्व है जीव और पुद्गल दोनों का योग। हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं है।

इस दुनिया में हम अकेले नहीं हैं। बहुत बड़ा सूत्र है कि हम अकेले नहीं हैं। अचेतन भी हैं। हमारा प्रतिपक्षी तत्त्व अचेतन उसका भी अस्तित्व है और हमारा भी अस्तित्व है। जहां अस्तित्व का प्रश्न है, जैनदर्शन ने बताया कि चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। अस्तित्व की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों समान हैं। भेद कहां होता है? व्यक्तित्व कहां बनता है? जहां एक द्रव्य है चेतन और दूसरा द्रव्य है अचेतन। जिसमें चेतना है, ज्ञान है, जानने की क्षमता है, वह है चेतन, जीव। जिसमें चेतना नहीं है, जानने की योग्यता नहीं है, वह है अजीव।

वेदान्त दर्शन केवल चेतन तत्त्व को मानता है, अचेतन को वास्तविक नहीं मानता। चार्वाक दर्शन अचेतन को वास्तविक मानता है, किन्तु चेतन को वास्तविक नहीं मानता।

जैनदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह चेतन और अचेतन यानी जीव और पुद्गल दोनों के अस्तित्व को स्वतंत्र मानता है, यथार्थ मानता है। जैनदर्शन यथार्थवादी दर्शन है। हम अकेले नहीं हैं। हमारा अस्तित्व है और उसके साथ-साथ अचेतन का भी अस्तित्व है। इसलिए जैनदर्शन में अचेतन के प्रति व्यवहार करने का विवेक भी दिया गया। बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। जहां जीव-संयम है तो साथ-साथ में अजीव संयम भी है। एक आदमी जा रहा है। ईंट पड़ी है। ठोकर लगी। गुस्से में आया और ईंट को भी तोड़ दिया। यह हिंसा है। आप कहेंगे कि ईंट में जीवन तो नहीं है। हिंसा किसकी हुई? पुद्गल की भी हिंसा होती है। पुद्गल की भी अवज्ञा होती है, अपमान होता है। ईंट के प्रति गुस्सा निकाला तो हिंसा हो गई। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए। कपड़ा पहना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुआ है। गर्मी लगी। पसीना आया। कपड़े को ही फाड़ डाला। यह भी हिंसा है। अजीव के प्रति भी हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह जानना भी जरूरी है। क्योंकि अजीव का भी अस्तित्व है। आदमी जा रहा है। बालू का टीला आया। पैर से उसे रौंदा। यह भी हिंसा है। अजीव को भी इधर-उधर करने का अधिकार नहीं है। उसका अपना अस्तित्व है। हमारा अस्तित्व है तो उसका भी अपना अस्तित्व है। इस जगत को हमारे अस्तित्व के साथ जैनदर्शन ने एक ऐसी व्यवस्था दी कि तुम अकेले नहीं हो, इसलिए तुम्हारा व्यवहार और आचरण भी संयत होना चाहिए। जीव संयम के साथ अजीव संयम भी आवश्यक है।

जहां गांव है, गांव में हजारों घर हैं, वहां एक सामाजिक शिष्टता होती है, नागरिक चेतना होती है। नागरिक चेतना का अर्थ होता है कि हम अपने पड़ोसी के साथ कैसा व्यवहार करें? बहुत बार ऐसा होता है कि अपने घर से सफाई की, कचरा निकाला और दूसरे के घर के सामने डाल दिया। यह नागरिक शिष्टता का अतिक्रमण है। हम सब इस दुनिया में पड़ोसी हैं। इस जगत में चेतन अचेतन का पड़ोसी है और अचेतन चेतन का पड़ोसी। सारा एक कुटुम्ब, एक पड़ोस। सीमाएं कृत्रिम हैं। यह जोधपुर, यह उदयपुर, यह दिल्ली, यह कलकत्ता, यह राजस्थान, यह पंजाब, यह हरियाणा—ये सारी सीमाएं कृत्रिम हैं, व्यावहारिक हैं। वास्तविक नहीं हैं। न जाने कितनी बार मनुष्य ने इन सीमाओं को बदला है। कितनी बार बनाया है। जो किया हुआ होता है, उसका यह स्वभाव होता है कि कितनी बार बनता है, कितनी बार बिगड़ता है। कभी किया जाता है, कभी मिटाया जाता है। ये सारे बच्चों के खेल हैं। बच्चा खेल खेलता है, कभी कुछ बना देता है, कभी कुछ बिगाड़ देता है।

आज का हिन्दुस्तान कभी बृहत् भारत रहा। आज छोटा-सा भारत बन गया। हजारों वर्षों में न जाने कौन देश कितना बना है और कितना बिगड़ा है। यह सारा परिवर्तन होता है, इसलिए कि स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक यह है कि एक जगत और उस जगत में रहने वाले मूल तत्त्व सब पड़ोसी हैं। एक-दूसरे से मिले-जुले हैं और एक साथ रह रहे हैं। यह मेरी अंगुली है। इस अंगुली में आपको क्या दीखता है? आपको कोरी अंगुली दिखाई पड़ रही होगी। क्या यहां धर्मास्तिकाय नहीं है? अवश्य है। क्या अधर्मास्तिकाय इस अंगुली में नहीं हैं? वह भी है यानी गतितत्त्व भी है और स्थितितत्त्व भी है। क्या आकाश अंगुली में नहीं है? वह भी है। क्या यहां काल नहीं है? अवश्य है। क्या पुद्गल नहीं है? पुद्गल भी है। क्या चेतना नहीं है? वह भी है। सब एक साथ रह रहे हैं? एक ही आकाश में सारे तत्त्व समाए हुए हैं और साथ-साथ रह रहे हैं? न कोई किसी को मार रहा है, न कोई किसी को काट रहा है और न कोई किसी का विरोध कर रहा है। सब एक साथ रह रहे हैं।

3.6 अहिंसा और मैत्री का आधार द्वैतवाद

जैनदर्शन ने इस द्वैतवाद की स्थापना कर एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके आधार पर आज अहिंसा और मैत्री के सिद्धान्त का विकास हुआ। अहिंसा और मैत्री का सिद्धान्त कहां से आया?

यह साहचर्य से आया। सब द्रव्य एक साथ रहते हैं। कहीं कोई विरोध की भावना नहीं, विरोध की बात नहीं। कोई टकराव नहीं। एक साथ में रहना और अपने-अपने अस्तित्व को स्वतंत्र बनाए रखना।

अहिंसा का यह अर्थ नहीं कि हम अपने अस्तित्व को समाप्त कर दें। अपना अस्तित्व स्वतंत्र रहे, एक साथ रहे। स्वतंत्रता और सह-अस्तित्व दोनों का इतना सुन्दर प्रतिपादन हुआ है कि तुम स्वतंत्र भी हो और सह-अस्तित्व वाले भी हो। अकेला कोई रह नहीं सकता। अगर कोई आदमी यह चाहे कि मैं अकेला हूं, कभी संभव नहीं है। दुनिया में अकेला कोई रह ही नहीं सकता। आकाश को छोड़ा नहीं जा सकता। गति तत्त्व और स्थितितत्त्व को छोड़ा नहीं जा सकता। परमाणुओं, काल और देश का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। फिर आदमी अकेला रहेगा कहां? यह अकेलेपन की कल्पना स्थूल कल्पना है, सापेक्ष कल्पना है। अकेला कोई भी हो नहीं सकता। हर आदमी एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, सम्बन्ध किए हुए है।

यह जैनदर्शन का जगत, जिसमें सहअस्तित्व है, जिसमें भाईचारा है, जिसमें स्वतंत्रता है, इसमें हम हैं। हम केवल पुद्गल के साथ ही नहीं हैं। जीवों के साथ भी हैं। जिस जगत में हम हैं, उसमें हमारे और भी बहुत से भाई हैं। सगे भाई हैं। एक पृथ्वी का जीव, मिट्टी से पैदा होने वाला जीव, एक वायु में पैदा होने वाला जीव, एक वनस्पति में पैदा होने वाला जीव और एक त्रस में पैदा होने वाला जीव। एक आदमी इन सारे जीवों के साथ जी रहा है। हम अकेले नहीं हैं। कितना बड़ा है हमारा परिवार। मूल जगत तो हमारा बहुत छोटा है। द्रव्य बहुत छोटा है किन्तु उसका परिवार बहुत लम्बा है। विस्तार को जब हम देखें तो पता ही नहीं चल सकता। बड़ा विचित्र-सा लगता है। जगत का मूल भाग बहुत छोटा और उत्तर भाग बहुत बड़ा होता है। मूल तत्त्व हैं पांच और उनका विस्तार इतना बड़ा जगत बन गया। कितना विस्तार हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.7 जगत और हमारा अस्तित्व

जगत में हम लोग रह रहे हैं। हम अपने अस्तित्व को समझें कि हम किसी की सृष्टि नहीं हैं, किसी की रचना नहीं हैं। हमारा स्वतंत्र अस्तित्व है। अनादि हैं, अनन्त हैं। न तो कभी हमारा अस्तित्व बना और न कभी समाप्त होने वाला है। सारे जगत के संदर्भ में व्यक्ति को, अपने आपको पहचानना है। जब तब जगत को नहीं समझा जा सकता तब तक व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। सारा प्रयत्न सिर्फ अपने-आपको जानने के लिए हो रहा है। गाय रखना, उसका दूध निकालना, दूध को गर्म करना, ठण्डा करना, जामन देना, दही बनाना, बिलौना—सारा किसलिए? मक्खन के लिए सारा किया जाता है। सारे जगत को समझना, जगत की व्याख्या करना, उसके बारे में चिन्तन करना, यह सारा किसलिए? एक अपने आपको समझने के लिए कि मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, अस्तित्व कब से है, कब तक रहेगा? अपने बारे में पूरी जानकारी करने के लिए सारे जगत का बिलौना करना पड़ता है, तब कहीं जाकर मक्खन निकलता है। ऐसे ही मक्खन नहीं निकल जाता। बहुत झंझट करना पड़ता है। अपने आपको जानने के लिए यह हमारा सारा प्रयत्न है। हम स्वयं अपनी पहचान करें कि हम क्या हैं? हम चेतन हैं। हमारी चेतना स्वतंत्र है। किसी की कृति नहीं हैं। हम ज्ञाता हैं। हमारे भीतर ज्ञान है, जानने की शक्ति है। हमारे भीतर विवेक है, भेद करने की शक्ति है। हम जिस शक्ति के साथ रह रहे हैं, उसका भी भेद करना जानते हैं। जो यह शरीर है, मैं नहीं हूं। मैं अलग हूं, यह शरीर अलग है। अपनी सारी पहचान इस जगत के संदर्भ में होती है। इसलिए हमें जगत को जानना भी जरूरी है, अपने-आपको भी जानना जरूरी है। जगत को जाने बिना अपने-आपको नहीं जाना जा सकता। जगत को जानें, जगत के स्वभाव को जानें और जगत में हमारा स्थान क्या है, उसे भी जानें, हमारा स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए कि अचेतन तत्त्व में शक्ति तो है पर चेतना नहीं, ज्ञान की क्षमता नहीं। हमारा वह अस्तित्व है जिसमें चैतन्य भी है, शक्ति भी है और आनन्द भी है। ये तीनों बातें हैं। जैनदर्शन के अनुसार प्रज्ञा दो प्रकार की होती है। एक ज्ञ-प्रज्ञा और दूसरी प्रत्याख्यान प्रज्ञा। पहले जानो, फिर व्यवहार करो। यानी जो छोड़ने का है, उसे छोड़ दो। जो ग्रहण करने का है उसे ग्रहण करो। जिसकी उपेक्षा करनी है, उसकी उपेक्षा करो। यह व्यवहार करो। यह है हमारी प्रत्याख्यान-प्रज्ञा। पहले ज्ञान करें। ज्ञ-प्रज्ञा का प्रयोग करें और फिर प्रत्याख्यान-प्रज्ञा का प्रयोग करें। इस उभयमुखी प्रवृत्ति के द्वारा हम उस बिन्दु पर पहुंच सकते हैं, जहां हम स्वयं परमात्मा और ईश्वर की अवस्था को उपलब्ध होंगे। ईश्वर हमसे भिन्न नहीं हैं। परमात्मा हमसे भिन्न नहीं हैं। हमारे भीतर हमारा ईश्वर विद्यमान है। हमारे भीतर हमारा परमात्मा विद्यमान है। हम ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे हमारा प्रभु, हमारा ईश्वर, हमारा परमात्मा प्रकट हो जाए और हम स्वयं सत्-चित्-आनन्दमय अपने अस्तित्व को प्राप्त करें।

3.8 सारांश-इन सारी समस्याओं को ध्यान में रखकर जैन दार्शनिकों ने एक सिद्धान्त स्वीकार किया कि जगत अनादि है, अकृत है। इसको किसी ने बनाया नहीं। यह बना-बनाया है। जब अकृत है तो कब का प्रश्न ही नहीं उठता। कभी पैदा ही नहीं हुआ। न कर्ता का प्रश्न, न कब का प्रश्न, न कैसे का प्रश्न। सब स्वाभाविक है। जगत था, है और रहेगा। जगत का मतलब हमारी पृथ्वी नहीं है। यह पृथ्वी बन सकती है और यह पृथ्वी मिट सकती है। जगत का अर्थ यह सूर्य, चन्द्रमा, खगोल नहीं है, तारे और नीहारिका नहीं है। जगत का अर्थ है मूल तत्त्व, मूल पदार्थ। मूल तत्त्व हैं दो—चेतन और अचेतन। इनका निर्माण किसी ने नहीं किया। ये मूल हैं और इन्हीं का नाम है जगत।

3.9 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'जगत और ईश्वर'—इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. जैन दार्शनिकों के जगत सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्ट करें।
2. जैनदर्शन ईश्वरवादी है या नहीं? है तो कैसे और नहीं तो कैसे?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-एक पंक्ति में उत्तर दें:

1. पुद्गल का मूल रूप क्या है?
2. बोलना किसका कार्य है?
3. हमारा व्यक्तित्व क्या है?
4. जीव और अजीव में क्या अंतर है?
5. चेतन का प्रतिपक्षी तत्त्व कौन-सा है?
6. अहिंसा और मैत्री के सिद्धान्त कहां से आये?
7. जगत् को जानना क्यों आवश्यक है?
8. ज्ञ प्रज्ञा किसे कहते हैं?
9. प्रत्याख्यान प्रज्ञा से आप क्या समझते हैं?
10. प्राण शक्ति कैसे पैदा होती है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

संवर्ग : 2

इकाई–4 त्रिरत्न–सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 मोक्ष मार्ग
4.3 त्रिरत्न के भेद
4.4 सम्यक् ज्ञान
    4.4.1 सम्यक् ज्ञान के अंग
    4.4.2 सम्यक् ज्ञान के भेद
    4.4.2.1 मतिज्ञान
    4.4.2.2 श्रुतज्ञान
    4.4.2.3 अवधिज्ञान
    4.4.2.4 मन:पर्यय ज्ञान
    4.4.2.5 केवलज्ञान
4.5 सम्यक् चारित्र
4.6 सारांश
4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

मोक्ष के स्वरूप की तरह मोक्ष के साधन के सम्बन्ध में भी विभिन्न दर्शनों में मतभेद है। कोई ज्ञान मात्र को मोक्ष का साधन मानते हैं, तो कुछ दार्शनिक आचरण (कर्म) मात्र को मोक्ष का साधन बताते हैं, कुछ केवल भक्ति को संसार सन्तरण का सेतु समझाते हैं। जैन दार्शनिक सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण की एकता और पूर्णता को ही मोक्ष–मार्ग बताते हैं।

''सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:।''

यह जैन–दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की संयुति मोक्ष का मार्ग है। इसके विपरीत, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याआचरण संसार की वृद्धि का हेतु है। सम्यक् शब्द समीचीनता का द्योतक है। यह तीनों मे अनुगत है। यहां दर्शन का अर्थ श्रद्धा है, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं। वास्तविक बोध सम्यक् ज्ञान है तथा आत्म–कल्याण के लिए किया जाने वाला सदाचरण सम्यक् चारित्र है।

4.1 उद्देश्य–इस पाठ से हम जैनदृष्टि में मोक्ष के उपायभूत त्रिरत्न का सरल और हृदयग्राही विवेचन का अध्ययन करेंगे।

4.2 मोक्ष–मार्ग

श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के योग से मोक्ष–मार्ग बनता है। लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय भी कहते हैं। ये तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाते हैं। पृथक्–पृथक् तीनों से मोक्ष–मार्ग नहीं बनता न ही किन्हीं दो के मेल से। यदि कोरी श्रद्धा मात्र से हमारा कार्य होता तो भोजन की श्रद्धा मात्र से पेट भर जाना चाहिए। यदि ज्ञान मात्र से ही दु:ख की निवृत्ति होती तो जल के दर्शन मात्र से ही प्यास की तृप्ति हो जानी चाहिए।ये सब बातें प्रत्यक्ष रूप से विरुद्ध हैं।

इसी प्रकार कोरा क्रियाकाण्ड भी अन्धे पुरुष के आचरण की तरह निरर्थक है। इसलिए कहा गया है कि ''अकर्मण्यों का ज्ञान प्राणहीन है तथा अविवेकियों की क्रिया निस्सार है। श्रद्धाविहीन बुद्धि और प्रवृत्ति सच्ची सफलता प्रदान नहीं कर सकती।'' आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने उक्त बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र पृथक्–पृथक् रूप से मोक्ष का साधन नहीं है। रोगी का रोग दवा में विश्वास करने मात्र से दूर न होगा। जब तक उसे दवा का ज्ञान न हो और वह चिकित्सक के अनुसार आचरण न करे, रोग जाने का नहीं। इसी तरह दवा की जानकारी–भर से ही रोग दूर नहीं होता, जब तक कि रोगी उस पर विश्वास न करे और उसका विधिवत् सेवन न करे। इसी प्रकार दवा में रुचि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और उसके ज्ञान के बिना उसके सेवन मात्र से भी रोग दूर नहीं हो सकता। रोग तभी दूर हो सकता है जब दवा में श्रद्धा हो, उसकी जानकारी हो और चिकित्सक के कहे अनुसार उसका सेवन किया जाये। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की समष्टि से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है इसकी तुलना हम लकड़ी के जीने से कर सकते हैं। जिस प्रकार लकड़ी के जीने में उसके दोनों ओर दो पाये लगे रहते हैं तथा बीच में कुछ आड़ी लकड़ियां लगी होती हैं, जो दोनों पायों को जोड़े रहती है। दोनों ओर के पाये सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान के प्रतीक हैं तथा बीच की आड़ी लकड़ी सम्यक् चारित्र की प्रतीक है, जिसके सहारे हम आध्यात्मिक ऊंचाइयों का स्पर्श कर पाते हैं। बीच की लकड़ियों के अभाव में दोनों ओर के पाये कुछ काम नहीं कर पाते तथा दोनों पायों के अभाव में बीच की लकड़ियां भी निरर्थक सिद्ध होती हैं। तीनों के योग से ही सीढ़ी तैयार हो सकती है। इसी प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के योग से ही मोक्ष-मार्ग बनता है।

श्रद्धा, ज्ञान और आचरण क्रमश: हमारे मस्तिष्क, आंख और चरण के प्रतीक हैं। व्यक्ति को चलने के लिए इनका सम्यक् उपयोग करना पड़ता है। पैरों से हम चलते हैं, आंखों से देखते हैं तथा मस्तिष्क से यह निर्णय लेते हैं कि हमें कहां पहुंचना है। तभी हम सही चल पाते हैं। यदि हम आंखें बन्द कर चलते रहें तो गर्त में गिरेंगे। आंखें खुली हों, किंतु पैर काम नहीं दे रहे हों तो हम अपने घर नहीं पहुंच सकते। पैर भी सही हों, आंखें भी खुली हों, पर हमें यही पता न हो कि हमें पहुंचना कहां है, तो निरन्तर गतिशील रहने के बाद भी हम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते? इसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के संयोग से ही हम मोक्ष-मार्ग पर चल सकते हैं।

4.3 त्रिरत्न के भेद – निश्चय और व्यवहार के भेद से रत्नत्रय दो प्रकार का है। व्यवहार प्रवृत्ति मूलक है तथा निश्चय निवृत्ति परक। शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा, शुद्धात्मा का ज्ञान और शुद्ध आत्मस्वरूप में लीनता रूप चारित्र की अभिन्न परिणति होने पर निश्चय रत्नत्रय बनता है। यह परम वीतराग अवस्था में होता है। इससे पूर्व की भूमिका में (सराग दशा में) तत्त्वों के श्रद्धान और ज्ञान पूर्वक होने वाले आचरण को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। निश्चय साध्य है और व्यवहार को उसका साधन कहा गया है। जैसे फूल के अभाव में फल नहीं मिलता, वैसे ही व्यवहार रत्नत्रय के अभाव में निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती। फूल ही विकसित होकर फलों में रूपान्तरित होते हैं। इसलिए प्राथमिक भूमिका में व्यवहार रत्नत्रय का आलम्बन लिया जाता है। यह व्यवहार रत्नत्रय ही आगे चलकर निश्चय में ढल जाता है।

4.3.1 सम्यक् दर्शन – सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में से सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति साथ-साथ होती है। जैसे दीपक का प्रकाश और ताप साथ-साथ होता है; वैसे ही ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति साथ-साथ होती है; क्योंकि ज्ञान हमेशा मान्यता (श्रद्धा) का अनुसरण करता है। हमारी जैसी मान्यता होती है, ज्ञान उसी रूप में ढल जाता है। मान्यता यदि मिथ्या होती है तो ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है। मान्यता के सम्यक् होते ही ज्ञान सम्यक् हो जाता है। चारित्र के साथ दोनों प्रकार की सम्भावनाएं हैं। यह सम्यक् दर्शन और ज्ञान के साथ भी हो सकता है तथा कुछ काल बाद भी, किंतु चारित्र कभी भी ज्ञान और दर्शन के बिना नहीं होता। इसकी उत्पत्ति कभी भी ज्ञान और दर्शन के अभाव में नहीं होती।

4.3.1.1 सम्यक् दर्शन का महत्त्व – यद्यपि सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समष्टि ही मोक्ष-मार्ग है। फिर भी उनमें सम्यक् दर्शन का विशेष महत्त्व है। ज्ञान और चारित्र में समीचीनता सम्यक्त्व से ही आती है। सम्यक्त्व की बुनियाद पर ही साधना का महल टिका है। इसे मोक्षमहल की पहली सीढ़ी कहा गया है। सम्यक्त्व के डगर पर पैर रखकर ही हम रत्नत्रय के महल में प्रवेश कर सकते हैं। नदी को पार करने में नाव और पतवार से नाविक का महत्त्व कहीं अधिक है। नाविक ही नाव को सही दिशा में ले जाता है। नाविक के बिना नाव अपने निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। उसी तरह चारित्र की नाव को ज्ञान की पतवार से सम्यक्त्व खेवटिया बनकर खेता है। इसलिए ज्ञान और चारित्र से सम्यक्त्व की श्रेष्ठता बताते हुए इसे कर्णधार कहा गया है। वस्तुत: जैसे अंक के अभाव में शून्य का कोई महत्त्व नहीं रहता, वैसे ही सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र का महत्त्व नहीं रहता।

4.3.1.2 सम्यक्त्व का स्वरूप – विभिन्न दृष्टियों से सम्यक् दर्शन के विभिन्न लक्षण बताये हैं। यथा—

1. परमार्थभूत, देव, शास्त्र और गुरु पर तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से युक्त होकर श्रद्धा करना।
2. तत्त्वों पर श्रद्धा करना।
3. स्व पर का श्रद्धान करना।
4. आत्मा का श्रद्धान करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन लक्षणों में तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण सभी में दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि जीव की शुद्ध अवस्था ही देव है। सच्चे गुरु तो साक्षात् संवर निर्जरा की प्रतिमूर्त्ति हैं। शास्त्र सच्चे धर्म का अधिष्ठान हैं। सच्चा धर्म अजीव, आस्रव और बन्ध इन तत्त्वों से हटकर जीव के संवर और निर्जरा तत्त्वों की ओर झुकने का नाम है। इसका फल मोक्ष है। अत: सच्चे देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा व सात अथवा नौ तत्त्वों की श्रद्धा एक ही बात है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं तथा पुण्य, पाप को बन्ध से पृथक् मानें तो नौ तत्त्व हैं। जिनमें जीव 'स्व' तत्त्व है। अजीव, आस्रव और बन्ध 'पर' हैं। संवर और निर्जरा स्व के साधन, मोक्ष जीव का स्वाभाविक रूप है। अत: स्व-पर का श्रद्धान रूप लक्षण भी इन सात तत्त्व वाले लक्षण में समाहित हो जाता है। आत्मा का श्रद्धान रूप लक्षण का अर्थ है। आत्मा के समस्त अजीव, आस्रव, बन्ध आदि वैभाविक भावों से रहित अवस्था का श्रद्धान करना। उसमें भी सात तत्त्वों वाला लक्षण गर्भित हो जाता है।

4.3.1.3 सम्यक् दर्शन के साधन

सम्यक् दर्शन के होते ही ऐसी भेद दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिससे शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता का भान होने लगता है। आत्मसत्ता की आस्था और स्वरूप विषयक दृढ़ निश्चय हो जाने से मैं कौन हूं? क्या हूं? इसका प्रतिभास होने लगता है। जड़-चेतन की इसी पारखी दृष्टि को भेद-विज्ञान कहते हैं। जब तक ऐसी दृष्टि प्राप्त नहीं होती तब तक यह जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। अनादि काल से यह जीव मिथ्यात्व से ग्रसित है। शरीर की उत्पत्ति से ही अपनी उत्पत्ति तथा शरीर के विनाश को ही अपना विनाश समझता आ रहा है। इस देहात्म बोध के छूटने पर ही सम्यक्दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। आत्मबोध की इस प्रक्रिया को ग्रंथि-भेद कहते हैं, जो सांसारिक प्रवाह में कभी किसी समय पर उचित कारणों के मिलने पर उत्पन्न होता है। किन्हीं जीवों को यह अकस्मात् 'घर्षण घोलन-न्याय' से प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार प्रवाह पतित पाषाण-खण्डों के परस्पर घिसते रहने से नाना प्रकार के आकार यहां तक कि देव मूर्त्ति बन जाती है। कुछ जीवों को विशिष्ट निमित्त के मिलने से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। सम्यक् दर्शन प्राप्ति के प्रमुख हेतु इस प्रकार हैं—

1. जातिस्मरण—पूर्व के जन्मों का स्मरण।
2. वेदनानुभव—तीव्र-दु:ख-संवेदन।
3. धर्मश्रवण—निर्ग्रंथ मुनियों एवं सत् शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न तत्त्व-बोध।
4. जिन बिम्ब दर्शन—वीतरागी मुनियों तथा जिनबिम्ब दर्शन।
5. जिनमहिमा दर्शन—धर्म महोत्सवों का दर्शन।

ये सम्यक् दर्शन के बाह्य हेतु हैं। सम्यक्त्व का अंतरंग हेतु दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय, उपशम या क्षयोपशम है, जो कि मोह-ग्रंथि भेद की प्रक्रिया द्वारा सम्पादित होता है।

4.3.1.4 सम्यक् दृष्टि की प्रवृत्ति

सम्यक् दृष्टि विषय भोगों से निर्लिप्त रहता है। उसकी वृत्ति कमल के समान होती है। जैसे जल के बीच रहने वाला कमल जल से सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि भोग और विषयों के मध्य में रहते हुए भी उनके प्रति गहन आसक्ति नहीं रखता। वह संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहता हुआ सच्चे देव, शास्त्र और गुरु को अपने जीवन का आदर्श मान, उनके प्रति सच्ची श्रद्धा रखता है। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की उपासना से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है। इसलिए सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा की बात की जाती है। प्रत्येक मुमुक्षु को सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और गुरु की पहचान कर उन पर सच्ची श्रद्धा रखनी चाहिए। अत: उनके स्वरूप का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

4.3.1.5 देव, शास्त्र और गुरु का स्वरूप

सच्चे देव की तीन विशेषताएं हैं। सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता। अत: जिनके अन्दर-बाहर, राग-द्वेष और मोह का लेशांश भी न हो वे ही जैनमत में देव हैं। वीतरागी होने से अलंकरण से रहित परम शान्त मुद्रा ही सच्चे देव का स्वरूप है। राग-द्वेष मोह का समूलोच्छेद हो जाने के कारण उनके विकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं। सर्वज्ञ और वीतरागी होने के कारण वे जो उपदेश देते हैं, वह सबके कल्याण के लिए होता है। उनका उपदेश किसी वर्ग-विशेष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के लिए न होकर प्राणिमात्र के लिए होता है। इसलिए उन्हें परम हितोपदेशी कहते हैं। इस प्रकार वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ही सच्चे देव का स्वरूप है। ये ही तीर्थंकर, अरिहन्त और परमात्मा कहलाते हैं।

4.3.1.6 शास्त्र—आज लोक में अनेक प्रकार के शास्त्र प्रचलित हैं। अलग-अलग विषयों के अलग-अलग साहित्य-भण्डार हैं। अब प्रश्न उठता है इस विपुल भण्डार में कौन से शास्त्र हैं जो हमारे हित के कारण हैं तथा जिन्हें सत्यशास्त्र कहा जा सके? सत्य को उपलब्ध व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र हो सकते हैं। राग-द्वेष और मोह से ग्रसित प्राणी असत्य वाणी का प्रयोग करता है। असत्यवाणी हमारे लिए हितकर नहीं है। अतः राग-द्वेष से रहित व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र की कोटि में आते हैं। इसलिए सम्यक् दृष्टि साधक आप्त-वीतराग पुरुषों द्वारा रचित शास्त्रों को ही सत् शास्त्र मानता है। कहा भी गया है। **''वक्तुः प्रामाण्याद् वचन-प्रामाण्यम्''** अर्थात् वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है क्या बोला जा रहा है? यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि कौन बोल रहा है, यदि वक्ता अप्रामाणिक है तो वह मिश्री में जहर की तरह अपनी मीठी वाणी में अहितकर उपदेश भी दे सकता है। वक्ता के प्रामाणिक होने पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं रहता। इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है—

मान लीजिए एक सज्जन ऐसे जंगल में फंस गये जहां कोई मार्ग नही सूझता हो। सोचकर निकले किसी गांव तक पहुंचने का, पर बीच में ही भटक गये। अनेक पगडंडियां फूटी हैं। असमंजस की स्थिति में खड़े हैं कि किधर चले? तभी देखते हैं कि सामने से घुटनों तक मैली-कुचैली धोती पहने, अर्द्धनग्न बदन, बिखरे बालों वाला, काला-कलूटा, भीमकाय व्यक्ति चला आ रहा है। देखते ही मन भयाक्रान्त हो उठता है। फिर भी जैसे-तैसे साहस बटोरकर उससे पूछा भी, तो उसने ऐसा कर्कश उत्तर दिया मानो खाने को ही दौड़ता हो। 'रास्ता भूल गया है.....मार्ग नहीं जानता था तो क्यों आया यहां पर.....तेरे बाप का नौकर हूं क्या? चला जा अपनी दायीं ओर.....!' आप ही बतायें उसके बताये मार्ग पर उस सज्जन के कदम कभी भी बढ़ेंगे? वे रात्रि वहीं बिताने को तैयार हो सकते हैं, मगर उस व्यक्ति के द्वारा इंगित दिशा पर एक कदम भी चलने का साहस नहीं कर सकेंगे।

अब वे सज्जन निराश खड़े हैं। तभी देखते हैं कि सामने से भव्य आकृति वाला मनुष्य चला आ रहा है। धोती दुपट्टा पहने, हाथ में कमण्डल लिये, माथे पर चन्दन का तिलक लगाये, मुख से प्रभु के गीत गुनगुनाता, वह दूर से ही कोई भद्र पुरुष प्रतीत हो रहा है। पास आने पर उन्होंने उसे नमस्कार किया, प्रत्युत्तर में उसने भी नमस्कार किया। मार्ग पूछने पर उन्होंने कहा, 'बड़े भाग्यवान् हो पथिक! जो अब तक सुरक्षित बचे हो। यह वन ही ऐसा है। यहां अनेक पथिक प्रतिदिन भटक जाते हैं। खैर, घबराने की कोई बात नहीं अभी दिन ढलने में समय शेष है, तुम्हारा गांव भी ज्यादा दूर नहीं। दांयी ओर जाने वाली इस पगडंडी से निकल जाओ। करीब एक मील आगे जाने पर एक नाला पड़ेगा, उसे पार करके उसके दांयी ओर मुड़ जाना, करीब आधा मील और चलोगे तो तुम्हें खेत दिखाई पड़ने लगेंगे। उन खेतों के बगल से बायीं ओर एक पगडंडी जाती है, उसे पकड़कर सीधे चले जाना, करीब एक मील चलने पर अपने गांव पहुंच जाओगे। कल्पना कीजिए क्या इस व्यक्ति की बात पर आपको विश्वास नहीं होगा? सहज ही आप उसकी बात का विश्वास कर लेंगे तथा उसे धन्यवाद ज्ञापित करते हुए आपके कदम अनायास उस दिशा में बढ़ जायेंगे। कही तो दोनों ने एक ही बात थी। पर पहले व्यक्ति के अप्रामाणिक होने से उसके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ तथा दूसरे की प्रामाणिकता ने सहज ही उस पर विश्वास उत्पन्न करा दिया। इसलिए कहा गया है कि वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है।

सत्य शास्त्र आप्त प्रणीत होने के साथ-साथ उनमें कुछ और भी विशेषताएं होती हैं। जैसे वह पूर्वापर विरोध से रहित हो। दूसरों की युक्तियों एवं तर्कों से उसका मूलभूत सिद्धान्त अखण्डनीय हो। प्राणि-मात्र का हितकारी हो। प्रयोजन भूत बातों का कथन हो तथा वह उन्मार्ग का नाश करने वाला हो, तभी वह सत्य शास्त्र की कोटि में आ सकता है। इसके विपरीत रागी-द्वेषी व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने वाले शास्त्र कुशास्त्र की कोटी में आते हैं।

4.3.1.7 गुरु—गुरु का मोक्ष-मार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु हमारे मार्गदर्शक हैं। देव आज हैं नहीं और शास्त्र मौन हैं। ऐसी स्थिति में गुरु ही हमारे सहायी होते हैं। गुरु के अभाव में हम शास्त्र के रहस्यों को भी नहीं समझ सकते। जैसे समुद्र का जल खारा होता है। हम उसमें नहा भी नहीं पाते और न ही उससे हमारी प्यास बुझती है, लेकिन वही जल सूर्य के प्रताप से वाष्पीकृत होकर बादल बनकर बरसता है तो वह मीठा और तृप्तिकर बन जाता है। हम आनन्द के साथ उस जल में अवगाहित होते हैं। वैसे ही शास्त्र भी अगम समुद्र की तरह है। हम अपने अल्प-ज्ञान के बल से उसमें अवगाहित नहीं हो पाते। गुरु अपने अनुभव के प्रताप से उसे अवशोषित कर बादल की तरह जब हम पर बरसाते हैं तब हम सहज ही शास्त्रों के मर्म को समझ जाते हैं। महान् तृप्ति और आह्लाद उत्पन्न होता है तथा जो प्रेरणा गुरुओं की कृपा से मिलती है वह शास्त्र और देव से नहीं; क्योंकि गुरु तो जीवित देव होते हैं। शास्त्र और देव-प्रतिमा से लाभ लेने की कला वही सिखाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मान लीजिये आपको किसी अपरिचित रास्ते से गुजरना पड़े, तो आप एकदम साहस नहीं जुटा पाते। भय लगता है। पता नहीं आगे यह रास्ता कैसा है? कितनी दुर्गम घाटिया हैं? कितने नदी-नाले हैं? कितने मोड़ हैं? कहीं जंगली जानवरों का आतंक तो नहीं? चोर-लुटेरों का दल तो नहीं रहता? बीच में पड़ने वाले गांवों के लोग पता नहीं कैसे हैं? ऐसी अनेक आशंकाओं से मन भयाक्रान्त हो उठता है। रास्ते का पता लगने के बाद भी पांव आगे नहीं बढ़ पाते। संयोग से वहीं कोई आपका चिर-परिचित मित्र मिल जाये और वह आपसे कहे-अरे! यह रास्ता तो बहुत अच्छा है। मैं तो रोज ही यहां से आया-जाया करता हूं। इसके चप्पे-चप्पे से मैं परिचित हूं। यहां कोई कठिनाई नहीं, सड़क अच्छी है। रास्ते में पड़ने वाले गांव के लोग सभ्य और सरल हैं। आओ मेरे साथ; मुझे भी उधर ही जाना है, तुम्हें अपने साथ ले चलता हूं। उनकी बात सुनते ही हमारे मन का भय भाग जाता है तथा हमारे कदम सहज ही उस ओर बढ़ जाते हैं।

यही स्थिति गुरु की है। शास्त्र के माध्यम से हम सही मार्ग जान तो लेते हैं, लेकिन अवरोधों के भय से उस पर चल पाने का साहस नहीं जुटा पाते। गुरु कहते हैं—"मार्ग तो बहुत सरल है। मुझे देखो...मैं भी तो चल रहा हूं। आओ मेरे साथ।" उन्हें देखकर सहज ही आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलने लगती है।

लोक में गुरु भी अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। अनेक धर्म हैं और अनेक धर्म-गुरु। इनमें सच्चा गुरु किनको समझा जाये? यह बड़ा ही जटिल प्रश्न है। लौकिक क्षेत्र में तो माता-पिता, अध्यापक आदि गुरु माने जा सकते हैं, किंतु पारमार्थिक क्षेत्र में किन्हें गुरु माना जाये, हमें यह देखना है। सच्चे गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री समन्तभद्र ने कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तःतपस्वी स प्रशस्यते।।

"विषय कषायों से रहित, आरम्भ परिग्रहों से परिमुक्त होकर ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन साधु ही सच्चे गुरु हैं।"

4.3.1.8 विषयासक्ति रहितता—यह सच्चे गुरु की पहली विशेषता है। विषयाभिलाषा, राग-द्वेष आकुलता की जननी है और पापों में प्रवृत्ति कराने वाली है। पांचों इन्द्रियों के विषयों के आधीन व्यक्ति कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। आत्म-कल्याण के पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु इन्द्रिय विजयी होते हैं। वे पांचों इन्द्रियों के किसी एक विषय पर भी आसक्त नहीं होते। विषयासक्ति तो साधुत्व पर कलंक है, अतः सच्चे गुरु को पञ्चेन्द्रिय विजयी होना चाहिए।

4.3.1.9 आरम्भ-रहितता—सच्चे गुरु की यह दूसरी विशेषता है। आरम्भ का मतलब है नौकरी, व्यापार, उद्यम, सेवा, खेती आदि कार्य जो प्राणियों को आसक्ति, तृष्णा, बैर-प्रीति, विषमता और दुःख पहुंचाने वाली प्रवृत्तियां हैं। ये कार्य साधारण प्राणियों में भी पाये जाते हैं। मनुष्य इन्हीं के गोरख-धंधे में फसकर दुःखी है। अतः इनमें उलझा हुआ व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। इनका पूर्णतः त्याग करके ही गुरुपद पाया जा सकता है।

4.3.1.10 परिग्रह-रहितता—यह सच्चे गुरु की तीसरी विशेषता है। ममत्व भाव को परिग्रह कहते हैं, जिनके पास बाह्य या भीतरी पदार्थों के प्रति थोड़ा भी ममत्व हो, वे सच्चे गुरु नहीं कहला सकते, क्योंकि ममत्व तो समस्त विकारों का मूल है। पापों में परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, इसके होने पर अन्य पापों में प्रवृत्ति अवश्यंभावी होती है। परिग्रह आकुलता का कारण तथा समता व वीतरागता का विनाशक है। इसलिए सच्चे साधु अपने पास कुछ भी परिग्रह नहीं रखते।

4.3.1.11 सतत ज्ञानार्जनशीलता—सतत ज्ञानाभ्यास सच्चे गुरु की चौथी विशेषता है। विषय कषायों से दूर होकर जब साधुगण अपने आत्म-ध्यान से बाहर आते हैं तो सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रहकर धर्मशास्त्रों में अपने चित्त को रमाये रखते हैं। यही उनकी सतत ज्ञानार्जनशीलता है। ज्ञानाभ्यास से चित्त में निर्मलता, समता व वीतरागता की सिद्धि व वृद्धि होती रहती है तथा दूसरों को भी ज्ञान का प्रसाद प्राप्त होता है।

4.3.1.12 प्रगाढ़ ध्यानलीनता और तपस्या—सच्चे गुरु सदा अपनी आत्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। वह अपनी साधना की अभिवृद्धि के लिए शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार का तप करते रहते हैं। आत्म- साधक गुरु का तपस्वी होना अनिवार्य है। तप से ही आत्मा में निखार आता है। इसके विपरीत भोग-विलासों में रत सुविधा-भोगी, नामधारी गुरु सच्चे गुरु नहीं कहला सकते। तपस्या सच्चे गुरु की छठी कसौटी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.3.1.13 तीन मूढ़ताएं

इस प्रकार सम्यक्दृष्टि साधक देव, शास्त्र और गुरु के चरणों मे सदा समर्पित रहता है। वह किसी प्रकार की ऐसी अज्ञानपूर्ण प्रवृत्तियां नहीं करता जिसका कोई अर्थ न हो तथा जिससे कोई धार्मिक या सामाजिक हानि उठानी पड़ती हो। वह एक वैज्ञानिक की तरह तर्क की कसौटी पर कसकर जो कुछ उसके आत्महित में हो, उसे ही धर्म-बुद्धि से स्वीकार करता है। लोक में चली आ रही अर्थहीन रूढ़ियों को वह धार्मिक मूर्खता समझता है। जैन-दर्शन मे इन्हें मूढ़ता कहा गया है और वह तीन प्रकार की होती है, लोक-मूढ़ता, देव-मूढ़ता और गुरु-मूढ़ता।

1. लोक-मूढ़ता—सम्यक्दृष्टि साधक दूसरों की देखा-देखी अन्धश्रद्धा से ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जिससे आत्मा की विशुद्धि नहीं होती। "इसमे स्नान करने से जन्म-जन्मान्तरो के पाप नष्ट होते हैं।" इस बुद्धि से वह कभी नदी या सागर में स्नान नहीं करता, क्योंकि ऐसा होता तो सारे जलचर जीवों को स्वत: मुक्त हो जाना चाहिए था। उन्हें तो अब तक पूर्ण निष्पाप हो जाना चाहिए। धर्म बुद्धि से पर्वत पर चढ़ना-गिरना, अग्नि का ढेर लगाकर उस पर कूदना, (अलाव कूदना), पत्थरों और बालू का ढेर लगाकर पूजना तथा पेड़-पौधों की पूजा आदि लोक-मूढ़ता है। सम्यक्दृष्टि ऐसे कार्य नहीं करता। वह इन्हें 'लोक-मूढ़ता' समझता है।

2. देव-मूढ़ता—सम्यक्दृष्टि साधक कल्पित, रागी-द्वेषी देवी देवताओं को ईश्वर मानकर उनसे कोई वरदान नहीं मांगता। दु:ख दूर करने के लिए उनकी प्रार्थना नहीं करता तथा धन, वैभव, राज्य, पुत्र आदि की याचना नहीं करता, क्योंकि उसका यह दृढ़ विश्वास रहता है कि संसार मे दु:ख-सुख अपने-अपने पाप और पुण्य के अनुसार मिलते हैं। कोई भी हमें कुछ दे नहीं सकता और न ही हमारा कुछ छीन सकता है। दूसरे हमें कुछ देते हैं इस प्रकार के विश्वास से कल्पित देवी-देवताओं की पूजा करना 'देव-मूढ़ता' है।

3. गुरु-मूढ़ता—सच्चे गुरु की परख हो जाने के कारण वह जन-प्रवञ्चक गुरु को नही मानता जो सत्य, ज्ञान और सदाचार से दूर हैं। लोगों से अपनी पूजा कराते हैं। धन-संग्रह करते हैं तथा आरम्भ परिग्रह से युक्त रहते हैं। झूठे आश्वासन देकर जनता को ठगते हैं एवं मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को गुरु मानकर वह उनकी पूजा प्रशंसादि नहीं करता, अपितु पत्थर की नाव की तरह संसार में डुबाने वाला मानकर उनकी उपासना को गुरु मूढ़ता/मूर्खता समझता है।

4.3.1.14 आठ मद

सम्यक्दृष्टि साधक मैं बहुत ज्ञानी हूं, मेरी बहुत प्रतिष्ठा है, मेरा कुल ऊंचा है, मेरी जाति ऊंची है, मैं अतुल पराक्रम का धनी हूं, मेरे पास विपुल धन है, मैं महान् तपस्वी हूं तथा मैं बहुत रूपवान् हूं इत्यादि रूप से अहंकार नहीं करता। ये मद कहलाते हैं। इनके होने पर सम्यक्त्व का दम निकल जाता है। सम्यक्दृष्टि इन उपलब्धियों को क्षणिक समझकर नाशवान् मानता है और अहंकार को साधना की सबसे बड़ी बाधा मानता है। यह सम्यक् दर्शन का खतरनाक शत्रु है।

4.3.1.15 सम्यक् दर्शन के अंग

इस प्रकार सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु पर, तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित होकर, श्रद्धा करने वाले सम्यक्दृष्टि साधक में स्वाभाविक रूप से आठ गुण प्रकट हो जाते हैं, जिससे उसका आचरण निर्मल बन जाता है। इन्हें सम्यक्त्व के अंग भी कहते हैं। जैसे हमारे शरीर के आठ अंग हैं वैसे ही सम्यक्त्व के आठ अंग हैं—नि:शंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़-दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना। आइए क्रम से इन पर विचार करें—

नि:शंकित—शंका का अर्थ होता है सन्देह। सम्यक्दृष्टि साधक नि:शंक होता है। उसे मोक्षमार्ग पर किसी भी प्रकार की शंका या सन्देह नहीं रहता। रहे भी कैसे? श्रद्धा और शंका भला एक साथ रह कैसे सकते हैं? हम अपने लौकिक जीवन में भी देख सकते हैं, जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा रहती है, उसके प्रति कोई सन्देह नहीं रहता। सन्देह उत्पन्न होते ही श्रद्धा टूटने लगती है। सम्यक्दृष्टि जीव को परमार्थभूत देव, गुरु तथा उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य सिद्धान्त, सन्मार्ग और वस्तु तत्त्व पर अविचल श्रद्धा रहती है। वह किसी प्रकार के लौकिक प्रलोभनों से विचलित नहीं होता। यह अविचलित श्रद्धा ही नि:शंकित अंग या गुण है।

नि:कांक्षित—विषय भोगों की इच्छा को आकांक्षा कहते हैं। सम्यक्दृष्टि साधक किसी प्रकार की लौकिक व पारलौकिक आकांक्षा नहीं रखता। उसके मन में इन्द्रिय भोगों के प्रति बहुमान नहीं होता। वह बाहरी सुविधाओं को क्षणिक संयोगमात्र मानता है। उसकी यह दृढ़ मान्यता रहती है कि संसार के सारे संयोग कर्मों के आधीन हैं, साथ ही नाशवान् भी हैं। पापोदय आ जाने से एक ही क्षण में धनवान् से निर्धन, रूपवान् से कुरूप, विद्वान् से पागल, राजा से रंक हो सकता है। संसार में किसी का भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सुख शाश्वत नहीं होता। वह संसार के सभी सुखों को विष-मिश्रित मिष्ठान्नवत् अत्यन्त हेय समझता है। यह सब समझकर वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहता है। यही उसका नि:कांक्षित गुण है।

निर्विचिकित्सा—विचिकित्सा का अर्थ ग्लानि या घृणा होता है। सम्यक् दृष्टि साधक मानव शरीर की बुरी आकृतियों को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु हमेशा उनके गुणों का आदर करता है। उसका विश्वास रहता है कि शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। गुणों द्वारा ही इसमें पवित्रता आती है। वह दीन-दु:खी, दरिद्र, अनाथ और रोगियों के बीमार शरीर को देखकर घृणा नहीं करता, अपितु प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करता है। वह पदार्थ के बाहरी रूप पर दृष्टि न देकर उसके आंतरिक रूप पर दृष्टि देता है। इस अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण वह शरीर के ग्लानिजनक रूप से विमुख हो उसके गुणों में प्रीति रखता है। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है।

अमूढ़ दृष्टि—मूढ़ता 'मूर्खता' को कहते हैं। मूर्खतापूर्ण दृष्टि को मूढ़ दृष्टि कहते हैं। सम्यक् दृष्टि साधक विवेकी होती है। वह अपने विवेक व बुद्धि से सत्य-असत्य, हेय-उपादेय और हित-अहित का निर्णय कर ही उसे अपनाता है। वह अन्धश्रद्धालु नहीं होता। परमार्थ-भूत देव, शास्त्र और गुरु को वह पूर्ण बहुमान देता है। इनके अतिरिक्त अन्य कुमार्गगामियों के वैभव को देखकर प्रभावित नहीं होता, न ही उनकी निन्दा या प्रशंसा करता है, अपितु उनके प्रति राग-द्वेष से ऊपर उठकर माध्यस्थ भाव धारण करता है। यही उसका अमूढ़ दृष्टित्व है।

उपगूहन—सम्यक्दृष्टि साधक गुण-ग्राही होता है। सतत अपनी साधना के प्रति जागरूक रहता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थिति, अज्ञान या प्रमाद के कारण किसी व्यक्ति से कोई अपराध हो जाये तो वह उसे संघ के बीच प्रकट नहीं करता, अपितु एकान्त में समझाकर उसे दूर करने का प्रयास करता है। जैसे—बाजार में अनेक वस्तुएं रहते हुए भी हमारी दृष्टि वही जाती है जिसकी हमें जरूरत है। वैसे ही सम्यक्दृष्टि को गुण ही गुण दिखाई पड़ते हैं। अपने अन्दर अनेक गुणों के रहने के बाद भी वह कभी अपनी प्रशंसा नहीं करता, अपितु अपने दोषों को ही बताता है। दूसरों के दोषों की उपेक्षा करके वह उनके गुणों को प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने दोषों को सदा देखता रहता है तथा दूसरे के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है तथा दूसरे के दोषों को। अपनी निन्दा करता है तथा दूसरों की प्रशंसा। दूसरे के दोषों तथा अपने गुणों को छुपाने के कारण इस गुण का नाम 'उपबृंहण' गुण भी है।

स्थितीकरण—सम्यक्दृष्टि साधक कभी किसी को नीचे नहीं गिराता। वह सभी को ऊंचा उठाने की कोशिश करता है। अपने-आपको भी वह हमेशा मोक्षमार्ग में लगाये रखता है। यदि कदाचित् किसी परिस्थितिवश वह उससे स्खलित होता है तो बार-बार अपने को स्थिर करने में तत्पर रहता है। उसी तरह किसी अन्य धर्मात्मा को किसी कारण से अपने मार्ग से स्खलित होते देखकर उसे बहुत पीड़ा होती है। वह येन केन प्रकारेण उसे सहायता देकर उसकी धार्मिक आस्था को दृढ़ करता है। भले ही उसे कोई कठिनाई उठानी पड़े। यदि कोई व्यक्ति आर्थिक परेशानियों से अपने मार्ग से च्युत हो रहा है तो उसे आर्थिक सहयोग देकर अथवा किसी काम पर लगाकर उसे पुन: वहां स्थिर करता है, शारीरिक रोग के कारण विचलित हो रहा है तो औषधि देकर, शारीरिक सेवा करके उसे धर्ममार्ग में लगाता है। यदि कुसंगति या मिथ्या उपदेश के कारण वह अपने धर्म मार्ग से स्खलित होता है, तो योग्य उपदेश देकर उसे पुन: स्थित करने का प्रयास करता है। अन्य भी कोई कारण आने पर वह यथासम्भव सेवा/सहयोग देकर उसे स्थिर करता है। यही सम्यक्दृष्टि साधक का स्थितीकरण अंग है।

वात्सल्य—वात्सल्य शब्द वत्स से जन्मा है। वत्स का अर्थ होता है बछड़ा। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के प्रति नि:स्वार्थ निष्कपट तथा सच्चा प्रेम रखती है, उसमें कोई बनावटीपन नहीं होता, उसे देखकर उसका रोम-रोम पुलकित हो जाता है। उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि साधक अपने, साधर्मी बन्धुओं के प्रति निश्छल, नि:स्वार्थ और सच्चा प्रेम रखता है। उसमें कोई दिखावटी या बनावटीपन नहीं रखता। उन्हें देखकर उसे उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी कि किसी आत्मीय मित्र से मिलकर होती है। वह उनके साथ अत्यन्त आत्मीयता का व्यवहार करता है। वह अपने प्रेम और वात्सल्य की डोर से पूरे समाज को बांधे रहता है। सभी लोग उसके प्रेम-पाश में बंधे रहते हैं। वह सबके प्रति सहयोग और सहानुभूति की भावना रखता है। यह उसका वात्सल्य गुण है।

4.3.1.16 प्रभावना—सम्यक्दृष्टि साधक की यह भावना रहती है कि जिस प्रकार हमें सही दिशा दृष्टि मिली है, सत्य धर्म का मार्ग मिला है, उसी प्रकार सभी लोगों का अज्ञानरूपी अन्धकार दूर हो, उन्हें भी सही दिशा मिले, वे भी सत्य धर्म का पालन करें। इस प्रकार की जगत् हितकारी भावना से अनुप्राणित होकर वह सदा अपने आचरण को विशुद्ध बनाये रखता है। उसका आचरण ऐसा बन जाता है कि उसे देखकर लोगों को धर्म में आस्था उत्पन्न होने लगती है। व्यक्ति उसका अनुकरण कर उसके आदर्शों पर चलने लगते हैं। वह परोपकार, ज्ञान, संयम आदि के द्वारा विश्व में अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तथा अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सव भी करता है, जिसमें हजारों लोग एक स्थान पर एकत्र होकर सद्भावनापूर्वक विश्वक्षेम की भावना भाते हैं, यह सब देखकर लोगों को अहिंसा धर्म की महिमा का भान होता है, यही उसका 'प्रभावना' गुण है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के नि:शंकित आदि आठ गुण कहे गये हैं। इन आठ गुणों का पूरी तरह से पालन करने पर सम्यक् दर्शन रहता है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार किसी विषहारी मंत्र मे यदि एक अक्षर भी कम हो जाता है तो वह मंत्र प्रभावहीन हो जाता है, उसी प्रकार एक अंग से भी हीन सम्यक्त्व हमारे संसार की सन्तति को नही मिटा पाता। आठों अंग पूर्ण होने पर ही सम्यक्त्व अपना सही कार्य करता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अंगों की तुलना हम अपने शरीर के आठ अंगों से कर सकते हैं। दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तिष्क। शरीर के इन अंगों के प्रति यदि हम थोड़ी बारीकी से विचार करें तो हमें इनमें भी सम्यक्त्व की झलक दिखाई देती है। समझने के लिए जब हम चलते हैं तो चलते वक्त एक बार रास्ता देखे लेने के बाद बिना किसी सन्देह के अपना दायां पैर बढ़ा लेते हैं। दायां पैर बढ़ते ही बिना किसी अपेक्षा के बायां पैर स्वयं बढ़ जाता है, यही तो नि:शंकित और नि:कांक्षित गुण का लक्षण है। अत: दायां और बायां पैर क्रमश: "नि:शंकित" और "नि:कांक्षित" अंग के प्रतीक हैं। तीसरा अंग है "निर्विचिकित्सा"। विचिकित्सा घृणा या ग्लानि को कहते हैं। इस गुण के आते ही घृणा या ग्लानि समाप्त हो जाती है। हम अपने बाएं हाथ को देखें, इस हाथ से हम शरीर के मूल-मूत्रादिक को साफ करते हैं। उस समय हम किसी प्रकार की घृणा का अनुभव नही करते हैं। यह हाथ 'निर्विचिकित्सा' अंग का प्रतीक है।

जब हमें किसी बात पर जोर देना होता है, जब हम कोई बात पूर्ण आत्मविश्वास से कहते हैं, तब हम अपना दायां हाथ उठाकर बताते हैं तथा अन्य किसी की बात पर ध्यान नहीं देते। यह 'अमूढ़ दृष्टि' का प्रतीक है, क्योंकि इस अंग के होने पर वह अपनी श्रद्धा पर अटल रहता है तथा उन्मार्गियों और उन्मार्ग से प्रभावित नहीं होता। शरीर का पांचवां अंग नितम्ब है। इसे सदैव ढांक कर रखा जाता है। इसे खुला रखने पर लज्जा का अनुभव होता है, यही तो 'उपगूहन' है, क्योंकि इसमें अपने गुण और पर के अवगुण को ढांका जाता है। नितम्ब उपगूहन अंग का प्रतीक है। सम्यक्त्व का छठा अंग है 'स्थितीकरण'। पीठ सीधी हो तभी व्यक्ति दृढ़ता का अनुभव करता है। जब हमें किसी वजनदार वस्तु को उठाना होता है तो उसे अपनी पीठ पर लाद लेते हैं। इससे हमें चलने में सुविधा हो जाती है। पीठ 'स्थितीकरण' अंग का प्रतीक है, क्योंकि गिरते हुए को सहारा देना ही तो 'स्थितीकरण' है।

हृदय शरीर का सातवां अंग है। जब हम आत्मीयता और प्रेम से भर जाते हैं तब अपने आत्मीय को हृदय से लगा लेते हैं। हृदय वात्सल्य अंग का प्रतीक है। वात्सल्य का अभाव होने पर सम्यक्त्व भी निष्प्राण ही सिद्ध होता है। मस्तिष्क शरीर का आठवां अंग है। इस अंग से हम सोच-विचार का काम लेते हैं। यह प्रभावना अंग का प्रतीक है, क्योंकि इसके ही आधार पर हम अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करते हैं तथा प्रवचनादि कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार इन आठ अंगों के पूर्ण होने पर ही हमारा सम्यक्त्व सही रह पाता है, अन्यथा वह तो विकलांग की तरह अक्षम रहता है। यदि हम अपने शरीर के अंगों की गतिविधियों की तरह सम्यक्त्व के अंगों की सार सम्हाल करते रहें तो फिर हमारा सम्यक्त्व स्थिर रहेगा।

4.4 सम्यक् ज्ञान

वस्तुओं को यथार्थ रूप में जानना सम्यक् ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वास के पश्चात् ही ज्ञान सम्यक् होता है। यों तो संसार के पदार्थों का ज्ञान न्यूनाधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को होता है। पर उस ज्ञान का आत्मविकास के लिए उपयोग करना बहुत कम लोग ही जानते हैं। सम्यक्दर्शन के पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद विज्ञान यथार्थ सम्यक् ज्ञान है। हेय-उपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है।

4.4.1 सम्यक् ज्ञान के अंग

सम्यक् दर्शन की तरह सम्यक्ज्ञान के आठ अंग निरूपित किये गये हैं—

1. **शब्दाचार**—मूलग्रंथ के शब्दों, स्वर, व्यंजन और मात्राओं को शुद्ध उच्चारणपूर्वक पढ़ना।
2. **अर्थाचार**—शास्त्र की आवृत्ति मात्र न करके उसका अर्थ समझकर पढ़ना।
3. **तदुभयाचार**—अर्थ समझते हुए शुद्ध उच्चारण सहित पढ़ना।
4. **कालाचार**—शास्त्र पढ़ने योग्य काल में ही पढ़ना, अयोग्य काल में नहीं। दिग्दाह, उल्कापात, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, सन्ध्याकाल आदि में शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. **विनयाचार**—द्रव्य-क्षेत्र आदि की शुद्धि के साथ विनयपूर्वक शास्त्र अभ्यास करना।
6. **उपधानाचार**—शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार-बार स्मरण करना, उसे विस्मरण नहीं होने देना उपधानाचार है।
7. **बहुमानाचार**—ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों का विनय करना।
8. **अनिह्नवाचार**—जिस शास्त्र या गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है उसका नाम न छिपाना। उक्त आठ अंगों के पालन से सम्यक्ज्ञान पुष्ट और परिष्कृत होता है।

4.4.2. सम्यक् ज्ञान के भेद

सम्यक्ज्ञान के पांच भेद हैं। मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान।

4.4.2.1 मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसके चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। विषय और विषयी के सन्निपात/सम्पर्क के अनन्तर "प्रथमत: कुछ है" इस प्रकार के अर्थबोध को 'अवग्रह' कहते हैं। अवग्रह के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में और स्पष्ट जानने की इच्छा को 'ईहा' कहते हैं। ईहा में निर्णय की ओर झुकाव होता है। ईहा के बाद एक निर्णय पर पहुंचना 'अवाय' है। अवाय द्वारा गृहीत अर्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति रह सके, 'धारणा' है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुतगति से चलता है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है। "अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह"। व्यंजन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट पदार्थों का ज्ञान व्यंजनावग्रह है। यह नेत्र और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थावग्रह कहलाता है। यह पांचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होता है। जैसे मिट्टी के नये घड़े पर पानी की बूंदें डालने पर वह गीला नहीं होता, परन्तु लगातार जल-बिन्दुओं को डालते रहनेपर वह गीला हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्त ग्रहण के पहले अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह है और व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह है। बहु, बहुविध आदि पदार्थों की अपेक्षा मतिज्ञान बारह प्रकार का होता है। विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या 336 हो जाती है।

4.4.2.2 श्रुतज्ञान—मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। मतिज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में या उसके सम्बन्ध से अन्य वस्तु के विषय में जो विशेष चिन्तन आरम्भ होता है, यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के लिए शब्द, श्रवण या संकेत आवश्यक है। अमुक शब्द का अमुक अर्थ में संकेत है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। शब्द, श्रवण, संकेत मतिज्ञान है। उसके बाद शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान सम्भव नहीं है। प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो श्रुत अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त/वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित आगम या शास्त्रों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के मतानुसार यही ज्ञान निर्जरा का साधनभूत होने से सम्यग्ज्ञान कहलाता है। मति इत्यादि शेष चार ज्ञान विशुद्धिरूप होने से साधन न होकर साध्य होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान है। इसके ग्यारह अंग चौदह पूर्व रूप से भेद माने गये हैं। अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भेद भी माने हैं। इन चारों अनुयोगों में सम्पूर्ण द्वादशांग का सार आ जाता है।

प्रथमानुयोग—किसी एक महापुरुष के चरित्र का प्रतिपादन करने वाले और त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का वर्णन करने वाले, पुण्य के कारणभूत, बोधि-समाधि के स्थानभूत प्रथमानुयोग है।

करणानुयोग—लोक-अलोक के विभाग को, दोनों कालों के परिवर्तन को और चारों गतियों को दर्पण के समान बतलाने वाला करणानुयोग है।

चरणानुयोग—गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति,बुद्धि और रक्षा के कारणों के प्रतिपादक शास्त्र चरणानुयोग कहलाते हैं।

द्रव्यानुयोग—जीव और अजीव तत्त्वों के पुण्य और पाप को तथा बन्ध-मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्र द्रव्यानुयोग कहलाते हैं।

श्री गुणभद्र सूरी कहते हैं कि—जो श्रुतस्कन्ध रूप वृक्ष अनेक धर्मात्मक पदार्थरूप फूल एवं फलों के भार से अतिशय झुका हुआ है, वचनों रूप पत्तों से व्याप्त है, विस्तृत नयों रूप सैकड़ों शाखाओं से युक्त है, उन्नत है तथा समीचीन एवं विस्तृत मतिज्ञान रूप जड़ से स्थिर है उस श्रुतस्कंध रूप वृक्ष के ऊपर बुद्धिमान साधुओं को अपने मनरूपी बन्दर को प्रतिदिन रमाना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अर्थात् चंचल मन को विषयों की ओर से खींचकर इस श्रुत के अभ्यास में लगाने से राग-द्वेष की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। इससे संवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष सुख की प्राप्त होती है। विशुद्धि रूप ज्ञान पांच प्रकार का है।पांच में से प्रथम दो मति और श्रुत की चर्चाकर चुके हैं, शेष तीन निम्नानुसार हैं—

4.4.2.3 अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है—भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय। देवों और नारकियों को यह ज्ञान जन्म के क्षणों में ही स्वभावत: प्राप्त हो जाता है। अतएव वह भव-प्रत्यय है। मनुष्यों और पशुओं में यह ज्ञान सम्यक्दर्शन आदि विशेष गुणों के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है इसलिए इसे गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। इसके छह भेद हैं—1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित, 6. अनवस्थित।

1. अनुगामी अवधिज्ञान ज्ञाता का अनुसरण करता हुआ छाया की तरह उसके साथ-साथ जाता है। 2. अननुगामी अवधिज्ञान जहां पैदा हुआ उस क्षेत्र-विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। 3. वर्धमान अवधिज्ञान शुक्लपक्ष की चन्द्रकलाओं की तरह उत्पत्ति के बाद निरन्तर वृद्धिंगत होता रहता है। 4. हीयमान अवधिज्ञान कृष्णपक्ष की चन्द्र कलाओं की तरह निरन्तर घटता रहता है। 5. अवस्थित अवधिज्ञान एक-सी स्थिति में रहता है तथा 6. अनवस्थित अवधिज्ञान अक्रम से घटता-बढ़ता रहता है। ये छह भेद अधिकारी की अपेक्षा हैं। विषय-क्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान के तीन भेद हैं। देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनके विषय-क्षेत्र और पदार्थों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार और विशुद्धि पायी जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इस कारण वह प्रतिपाती है। पर परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त कभी नहीं छूटते। ये दोनों तद्भव-मोक्षगामी मुनियों के ही होते हैं।

4.4.2.4 मन:पर्यय ज्ञान—दूसरों के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान मन:पयर्य ज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवतर्क या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिंतक जैसा सोचता है मन में उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की अकृतियां/पर्यायें बन जाती हैं। वस्तुत: मन:पर्यय का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान। मन:पर्यज्ञान के दो भेद हैं ''ऋजुमति और विपुलमति''। ऋजुमति सरल मन, वचन, काय से विचार किये गये पदार्थ को जानता है। पर, विपुलमति मन:पयर्यज्ञान सरल और कुटिल दोनों तरह से विचार किये गये पदार्थों को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है, किंतु विपुलमति ज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त बना रहता है। इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं। दोनों प्रकार का मन:पर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनियों को ही होता है। अवधिज्ञान और मन:पयर्यज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थ के अनन्तवें भाग को मन:पयर्यज्ञान जानता है।

4.4.2.5 केवलज्ञान—त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञानी को सर्वज्ञ कहते हैं। केवलज्ञानी केवलज्ञान होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है। केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो। समस्त ज्ञानावरण कर्म के समूल विनष्ट होने पर यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पूर्ण रूप से निरावरण और निर्मल ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ये चारों क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकसित रूप है।

4.5 सम्यक् चारित्र

साधना का तीसरा चरण चारित्र है। चारित्र के दो रूप माने गये हैं। निश्चय चारित्र और व्यवहार चारित्र। निश्चय चारित्र निवृत्ति मूलक है और व्यवहार चारित्र प्रवृत्ति परक। चारित्र का बाह्य आचारात्मक पक्ष व्यवहार चारित्र है और उसका आन्तरिक पक्ष निश्चय चारित्र है। निश्चय चारित्र का अर्थ है समस्त राग-द्वेषादि वैभाविक भावों से रहित होकर परम साम्य भाव में अवस्थिति। यह आत्मरमण की स्थिति है। जीव के आध्यात्मिक विकास का निश्चय चारित्र ही आधार है। इसे ही समता, वीतरागता या मध्यस्थता भी कहते हैं।

व्यवहार चारित्र का सम्बन्ध आचार नियमों के परिपालन से है। मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को त्याग कर व्रत, समिति आदि शुभ प्रवृत्तियों में लीन होना, व्यवहार चारित्र है। इसे देशव्रती और सर्वव्रती इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रती चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थों से और सर्वव्रती का सम्बन्ध मुनियों से है। गृहस्थाचार के अंतर्गत अष्टमूलगुण, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमा का पालन किया जाता है तथा मुनि आचार के अंतर्गत महाव्रत, समिति, गुप्ति-धर्म, अनुप्रेक्षा आदि के साथ अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया जाता है।

4.6 सारांश- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन में मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्कसंगत और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मोक्ष आत्म-विकास की परम और पूर्ण अवस्था है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. 'रत्नत्रय समष्टि रूप में मोक्ष के साधन हैं' इस तथ्य की पुष्टि करते हुए सम्यक् दर्शन आदि पर जैन दृष्टि से विचार प्रस्तुत करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. देव गुरु और शास्त्र पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
2. सम्यग् दर्शन के अंगभूत तत्त्वों की विवेचना करें।

अथवा

सम्यग् ज्ञान से आपका क्या तात्पर्य है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निश्चय में रत्नत्रय क्या है?
2. व्यवहार में रत्नत्रय का क्या तात्पर्य है?
3. सम्यग् दर्शन के लक्षणों का निर्देश करें।
4. सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के किन्हीं 3 हेतुओं का निर्देश करें।
5. समन्तभद्र के शब्दों में सच्चे गुरु का स्वरूप क्या है?
6. अनिह्नवाचार से आप क्या समझते हैं?
7. मतिज्ञान के संक्षिप्त तथा विस्तार में कितने भेद हैं?
8. प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ क्या है?
9. निश्चय चारित्र क्या है?
10. व्यवहार चारित्र को अपने शब्दों में व्यक्त करें।

संदर्भ पुस्तकें :

1. जैन धर्म और दर्शन— श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशक समिति, बरेला, जबलपुर (म.प्र.)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 5

त्रिपदी

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 परिणामिनित्यत्ववाद

5.3 नित्यनित्यात्मकता बनाम उत्पाद व्यय-ध्रौव्यता

5.4 द्रव्य पर्यायात्मकता

5.5 परिणमन: स्वाभाविक तथा वैभाविक

5.6 परिणमन: वैयक्तिक तथा सामुदायिक

5.7 अस्तित्व का आधार परिणमन

5.8 परिणमन का सिद्धान्त और विज्ञान

5.9 सारांश

5.10 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

त्रिपदी का सिद्धान्त तत्त्वमीमांसा से जुड़ा हुआ है। जैन तत्त्वमीमांसा का आधारभूत सिद्धान्त वस्तु की त्रयात्मकता है। वस्तु में उत्पाद-व्यय के साथ-साथ स्थायित्व भी बना हुआ है। कोई भी वस्तु सदा एक सी नहीं रहती और न ही पूर्णत: नष्ट होती है। परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती रहती है और अपने अस्तित्व को बनाये रखती है। वस्तु के इसत्रयात्मक स्वरूप को ही परिणामिनित्यता द्रव्यपर्यायात्मकता, नित्यानित्यात्मकता तथा सामान्य-विशेषात्मकता के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

5.1 उद्देश्य-प्रस्तुत पाठ में हम त्रिपदी का इन सभी संदर्भों में अध्ययन करेंगे।

5.2 परिणामिनित्यत्ववाद

आंधी चल रही है। उसमें जितनी शक्ति आज है, उतनी ही कल होगी, यह नहीं कहा जा सकता। जो कल थी, उसका आज होना जरूरी नहीं है और जो आज है उसका आने वाले कल में होना जरूरी नहीं है। इस दुनिया में एकरूपता के लिए कोई अवकाश नहीं है। जिसका अस्तित्व है, वह बहुरूप है। जो बाल आज सफेद हैं, वे कभी काले रहे हैं। जो आज काले हैं, वे कभी सफेद होने वाले हैं। वे एकरूप नहीं रह सकते। केवल बाल ही क्या, दुनिया की कोई भी वस्तु एकरूप नहीं रह सकती और न पूर्णत: नष्ट होती है। जैनदर्शन ने वस्तु जगत् की अनेकरूपता के कारणों पर गहराई से विचार किया है, अंतर्बोध से उसका दर्शन किया है। विचार और दर्शन के बाद एक सिद्धान्त की स्थापना की। उसका नाम है 'परिणामि-नित्यत्ववाद' अर्थात् वस्तु बदलती भी है और स्थाई भी रहती है। वस्तु का बदलना परिणमन है और उसका स्थिर रहना नित्यता है।

उत्पन्न होना और नष्ट होना वस्तु के परिणमन-स्वभाव को सूचित करता है। किन्तु यह परिणमन शून्य में नहीं होता किसी स्थितिशील पदार्थ में ही होता है। इसीलिए परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाश:, परिणामस्तद्विदामिष्ट:॥1॥

सत्पर्यायेण विनाश: प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययत:।
द्रव्याणां परिणाम:, प्रोक्त: खलु पर्यवनयस्य ॥2॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है। इसलिए उसकी दृष्टि से वर्तमान पर्याय की अपेक्षा जिसका कथंचित् रूपान्तर होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है। दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक बन जाता है, जिसको हम दूसरे शब्दों में परिणामी-नित्य या कथंचित-नित्य कहते हैं।

आगम की भाषा में जो गुण का आश्रय और अनन्त परिवर्तनों का आधार है वही द्रव्य है। इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक। दोनों में समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय)। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, जबकि वेदान्ती सत्पदार्थ ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैनदर्शन इन दोनों का समन्वय कर 'परिणामी-नित्यत्ववाद' स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी, द्रव्य स्थिर भी होता है और नष्ट भी। परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—यह वही है का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए परिणामी-नित्यत्ववाद जैनदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से की जा सकती है।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् 1789 में लेवायजर नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर या परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणत: नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुत: वह नष्ट नहीं होता, वायुमण्डल के ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहां कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुत: किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाही में जंग लग जाता है यह क्या है? यहां भी जंग नामक कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग से लोहे के ऑक्सी-हाइडेट के रूप में परिणत हो गयी। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अंतर को परिमाणात्मक अंतर में बदल देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तन नहीं, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, सिर्फ ये एक-दूसरे में परिवर्तित होते हैं। जैनदर्शन में मात पदिका का सिद्धान्त भी यही है।[1]

उत्पादध्रुवविनाशै:, परिणाम: क्षणे-क्षणे।

द्रव्याणामविरोधद्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते॥

उत्पाद, ध्रुव और व्यय—द्रव्यों का यह त्रिविध प्रकार का परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है—इन शब्दों में और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तरण मात्र है" इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। वस्तुत: संसार में जितने द्रव्य हैं उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तंतुओं से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पाद हैं। जन्म और मृत्यु दोनों सापेक्ष हैं—ध्रुव द्रव्य की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्म दृष्टि से पहला क्षण सापेक्ष-उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष-नाश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामी-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्यानित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। पृथक्-पृथक् रूप से ये भी परिणामी नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैनदर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामिनित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने परिणामि-नित्यत्ववाद को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया, फिर भी उन्होंने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है।

5.3 नित्यानित्यात्मकता बनाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता

जैनदर्शन बनाम उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता के अनुसार विद्व का कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य नहीं है। सर्वथा अनित्य नहीं है। प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है। तत्त्व का अस्तित्व ध्रुव है, इसलिए वह नित्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

ध्रुव परिणमन-शून्य नहीं होता और परिणमन ध्रुव-शून्य नहीं होता इसलिए वह अनित्य भी है। वह एकरूप में उत्पन्न होता है और एक अवधि के पश्चात् उस रूप से च्युत होकर दूसरे रूप में बदल जाता है। इस अवस्था में प्रत्येक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इन तीन धर्मों का समवाय है। उत्पाद और व्यय—ये दोनों परिणमन के आधार बनते हैं और ध्रौव्य—उनका अन्वयी सूत्र है। वह उत्पाद की स्थिति में भी रहता है और व्यय की स्थिति में भी रहता है। वह दोनों को अपने साथ जोड़े हुए हैं। जो रूप उत्पन्न हो रहा है, वह पहली बार नहीं हो रहा है और जो नष्ट हो रहा है, वह भी पहली बार नहीं हो रहा है। उससे पहले वह अनगिनत बार उत्पन्न हो चुका है और नष्ट हो चुका है। उसके उत्पन्न होने पर अस्तित्व का सृजन नहीं हुआ और नष्ट होने पर उसका विनाश नहीं हुआ। ध्रौव्य उत्पाद और व्यय को एक क्रम देता है किन्तु अस्तित्व की मौलिकता में कोई अंतर नहीं आने देता। अस्तित्व की मौलिकता समाप्त नहीं होती। जिसने वस्तु के स्थिर अंश को पकड़ने वाले 'कूटस्थ नित्य' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जिसने समुद्र में होने वाली उर्मियों को पकड़ने वाले 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। जैनदर्शन ने इन दोनों को एक ही धारा में देखा, इसलिए उसने नित्यानित्यत्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भगवान् महावीर ने प्रत्येक तत्त्व की व्याख्या नित्यानित्यत्ववाद के आधार पर की। उनसे पूछा गया—आत्मा नित्य है या अनित्य? पुद्गल नित्य है या अनित्य? उन्होंने एक ही उत्तर दिया—अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता। इस अपेक्षा से वे नित्य हैं। परिणमन का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं होता, इस दृष्टि से वे अनित्य हैं। समग्रता की भाषा में वे न नित्य हैं और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य हैं।

5.4 द्रव्य-पर्यायात्मकता

तत्त्व में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी और क्रमभावी। सहभावी धर्म तत्त्व की ध्रुवता (स्थिति) के और क्रमभावी धर्म उसके उत्पाद-व्यय (गतिशीलता) के सूचक होते हैं। सहभावी धर्म 'गुण' और क्रमभावी धर्म 'पर्याय' कहलाते हैं। जैनदर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है कि द्रव्य-शून्य पर्याय और पर्याय-शून्य द्रव्य नहीं हो सकता। एक जैन मनीषी ने कूटस्थनित्यवादियों से पूछा—पर्याय-शून्य द्रव्य किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? कोई बताये तो सही। उन्होंने ऐसा ही प्रश्न क्षणिकवादियों से पूछा कि वे बताएं तो सही कि द्रव्य शून्य पर्याय किसने देखा? कहां देखा? कब देखा? किस रूप में देखा? अवस्थाविहीन अवस्थावान और अवस्थाहीन अवस्थाएं—ये दोनों तथ्य घटित नहीं हो सकते। जो घटना-क्रम चल रहा है, उसके पीछे कोई स्थाई तत्त्व है। घटना-क्रम उसी में चल रहा है। वह उससे बाहर नहीं है। तालाब में एक कंकर फेंका और तरंगें उठीं। तालाब का रूप बदल गया। जो जल शांत था, वह क्षुब्ध हो गया, तरंगित हो गया। तरंग जल में है। जल से भिन्न तरंग का कोई अस्तित्व नहीं है। जल में तरंग उठती है इसलिए हम कह सकते हैं कि तालाब तरंगित हो गया। तरंगित होना एक घटना है। वह विशेष अवस्थावान में घटित होती है। जलाशय नहीं है तो जल नहीं है। जल नहीं है तो तरंग नहीं है। तरंग का होना जल के होने पर निर्भर है। जल हो और तरंग न हो—ऐसा भी नहीं हो सकता। जल का होना तरंग होने के साथ जुड़ा हुआ है। जल और तरंग—दोनों एक-दूसरे में निहित हैं—जल में तरंग और तरंग में जल।

द्रव्य पर्याय का आधार होता है। वह अव्यक्त होता है, पर्याय व्यक्त। हम द्रव्य कहां देख पाते हैं। हम देखते हैं पर्याय को। हमारा जितना ज्ञान है, वह पर्याय का ज्ञान है। मेरे सामने एक मनुष्य है। वह एक द्रव्य है। मैं उसे नहीं जान सकता। मैं उसके अनेक पर्यायों में से एक पर्याय को जानता हूं और उसके माध्यम से यह जानता हूं कि यह मनुष्य है। जब आंख से उसे देखता हूं तो उसकी आकृति और वर्ण—इन दो पर्यायों के आधार पर उसे मनुष्य कहता हूं। कान से उसका शब्द सुनता हूं, तब उसे शब्द-पर्याय के आधार पर मनुष्य कहता हूं। उसकी समग्रता को मैं भी नहीं पकड़ पाता। आम को कभी मैं रूप-पर्याय से जानता हूं, कभी गंध-पर्याय से और कभी रस-पर्याय से। किन्तु सब पर्यायों से एक साथ जानने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। आंख जब रूप को देखती है तो गंध और रस आदि पर्याय नीचे चले जाते हैं। गंध का पर्याय जब जाना जाता है तब रूप का पर्याय नीचे चला जाता है। इस समग्रता के संदर्भ में मैं कहता हूं कि मैं द्रव्य को नहीं देखता हूं, केवल पर्यायों को देखता हूं और पर्याय के आधार पर द्रव्य का बोध करता हूं।

हमारा पर्याय का जगत् बहुत लम्बा-चौड़ा है और द्रव्य का जगत् बहुत छोटा है। एक द्रव्य और अनन्त पर्याय। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के वलय से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्रव्य पर्यायों के पटल में छिपा हुआ है। उसका बोधकर द्रव्य को देखना इन्द्रिय ज्ञान के लिए संभव नहीं है।

5.5 परिणमन: स्वाभाविक तथा वैभाविक

परिणमन स्वभाव से भी होता है और प्रयोग से भी। स्वाभाविक परिणमन अस्तित्व की आंतरिक व्यवस्था से होता है। प्रायोगिक परिणमन दूसरे के निमित्त से घटित होता है। निमित्त मिलने पर ही परिणमन होता है, ऐसी बात नहीं है। परिणमन का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रम निरन्तर चालू रहता है। काल उसका मुख्य हेतु है। वह (काल) प्रत्येक अस्तित्व का एक आयाम है। वह परिणमन का आंतरिक हेतु है इसलिए प्रत्येक अस्तित्व में व्याप्त होकर वह अस्तित्व को परिणमनशील रखता है। स्वाभाविक परिणमन सूक्ष्म होता है। वह इन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता, इसलिए अस्तित्व में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों की इन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर व्याख्या नहीं की जा सकती। जीव और पुद्गल के पारस्परिक निमित्तों से जो स्थूल परिवर्तन घटित होता है, हम उस परिवर्तन को देखते हैं और उसके कार्य-कारण की व्याख्या करते हैं। कोई आदमी बीमारी से मरता है, कोई चोट से, कोई आघात से और कोई दूसरे के द्वारा मारने पर मरता है। बीमारी नहीं, चोट नहीं, आघात नहीं और कोई मारने वाला भी नहीं, फिर भी वह मर जाता है। जो जन्मा है, उसका मरना निश्चित है। मनुष्य जन्म के पहले क्षण में ही मरने लग जाता है। जो पहले क्षण में नहीं मरता, वह फिर कभी नहीं मर सकता। जो एक क्षण अमर रह जाए फिर उसकी मृत्यु नहीं हो सकती। बाहरी निमित्त से होने वाली मौत की व्याख्या बहुत सरल है। शारीरिक और मानसिक क्षति से होने वाली मौत की व्याख्या उससे कठिन है किन्तु पूर्ण स्वस्थ दशा में होने वाली मौत की व्याख्या वैज्ञानिक या अतीन्द्रिय ज्ञान के स्तर पर ही की जा सकती है।

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते हैं। किन्तु जैनदर्शन उसकी व्याख्या जीव और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। सृजन, विकास और प्रलय—जो कुछ भी घटित होता है, वह जीव और पुद्गल की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से घटित होता है। काल दोनों का साथ देता ही है। व्यक्त घटनाओं में बाहरी निमित्त भी अपना योग देते हैं। सृष्टि का अव्यक्त और व्यक्त—समग्र परिवर्तन उसके अपने अस्तित्व में स्वयं सन्निहित है।

5.6 परिणमन: वैयक्तिक तथा सामुदायिक

परिणमन सामुदायिक और वैयक्तिक—दोनों स्तर पर होता है। पानी में चीनी घोली और वह मीठा हो गया। यह सामुदायिक परिवर्तन है। आकाश में बादल मंडराए और एक विशेष अवस्था का निर्माण हो गया। भिन्न-भिन्न परमाणु-स्कन्ध मिले और बादल बन गया। कुछ परिणमन द्रव्य के अपने अस्तित्व में होते हैं। अस्तित्वगत जितने परिणमन होते हैं, वे सब वैयक्तिक होते हैं। पांच अस्तिकाय (अस्तित्व) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में स्वाभाविक परिवर्तन ही होता है। जीव और पुद्गल में स्वाभाविक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इनका स्वाभाविक परिवर्तन वैयक्तिक ही होता है किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन सामुदायिक भी होता है। जितना स्थूल जगत् है वह सब इन दो द्रव्यों के सामुदायिक परिवर्तन द्वारा ही निर्मित है। जो कुछ दृश्य है, उसे जीवों ने अपने शरीर के रूप में रूपायित किया है। इसे इन शब्दों में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह या तो जीवच्छरीर हैं या जीवों द्वारा त्यक्त शरीर है।

प्रत्येक अस्तित्व का प्रचय (काय, प्रदेश-राशि) होता है। पुद्गल को छोड़कर शेष चार अस्तित्वों का प्रचय स्वभावत: अविभक्त है। उसमें संघटन और विघटन—ये दोनों घटित होते हैं। एक परमाणु का दूसरे परमाणुओं के साथ योग होने पर स्कन्ध के रूप में रूपान्तरण हो जाता है और उस स्कन्ध के सारे परमाणु वियुक्त होकर केवल परमाणु रह जाते हैं। वास्तविक अर्थ में सामुदायिक परिणमन पुद्गल में ही होता है। दृश्य अस्तित्व केवल पुद्गल ही होता है। जगत् के नाना रूप उसी के माध्यम से निर्मित होते हैं। यह जगत् रंगमंच है। उस पर कोई अभिनय कर रहा है तो वह पुद्गल ही है। वही विविध रूपों में परिणत होकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। उसमें जीवन का भी योग होता है, किन्तु उसका मुख्य पात्र पुद्गल ही है।

5.7 अस्तित्व का आधार परिणमन

अस्तित्व में परिवर्तन होने की क्षमता है। जिसमें परिवर्तन होने की क्षमता नहीं होती, वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए नहीं रख सकता। अस्तित्व दूसरे क्षण में रहने के लिए उसके अनुरूप अपने आप में परिवर्तन करता है और तभी वह दूसरे क्षण में अपनी सत्ता को बनाए रख सकता है। एक परमाणु अनन्तगुना काला है। वही परमाणु एकगुना काला हो जाता है। जो एकगुना काला होता है, वह कभी अनन्तगुना काला हो जाता है। यह परिवर्तन बाहर से नहीं आता। यह द्रव्यगत परिवर्तन है। इसमें भी अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक तारतम्य होता रहता है। अनन्तकाल के अनन्त क्षणों और अनन्त घटनाओं में किसी भी द्रव्य को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए अनन्त परिणमन करना आवश्यक है। यदि उसका परिणमन अनन्त न हो तो अनन्तकाल में वह अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकता।

अस्तित्व में अनन्त धर्म होते हैं, कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त। प्रश्न हुआ कि क्या घास में घी है? इसका उत्तर होगा घास में घी है, किन्तु व्यक्त नहीं है। क्या दूध में घी है? दूध में घी है, पर पूर्ण व्यक्त नहीं है। दूध को बिलोया या दही बनाकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बिलोया, घी निकल आया। अव्यक्त धर्म व्यक्त हो गया। द्रव्य में 'ओघ' और 'समुचित'—ये दो प्रकार की शक्तियां काम करती हैं। 'ओघ' नियामक शक्ति है। उसके आधार पर कारण-कार्य के नियम की स्थापना की जाती है। घास में घी है या नहीं? इसका उत्तर है—'ओघ' शक्ति की दृष्टि से है किन्तु 'समुचिता' शक्ति की दृष्टि से नहीं है। पुद्गल द्रव्य में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये चारों मिलते हैं। गुलाब के फूल में जितनी सुगंध है, उतनी ही दुर्गन्धि है। किन्तु उसमें सुगंध व्यक्त है और दुर्गन्धि अव्यक्त। चीनी जितनी मीठी है, उतनी ही कड़वी है। किन्तु उसमें मिठास व्यक्त है और कड़वाहट अव्यक्त। किसी जल में जितनी दुर्गन्ध है, उतनी सुगंध भी छिपी हुई है। राजा जितशत्रु नगर से बाहर जा रहा था। मंत्री सुबुद्धि उसके साथ था। एक खाई आई। उसमें जल भरा था वह कुड़े-करकट से गंदा हो रहा था। उसमें मृत पशुओं के कलेवर सड़े रहे थे। दूर तक दुर्गन्ध फूट रही थी। राजा ने कपड़ा निकाला और नाक को दबा लिया। 'कितनी दुर्गन्ध आ रही है,' राजा ने मंत्री की ओर मुड़कर कहा। मंत्री तत्त्ववेत्ता था। उसने कहा—'महाराज! यह पुद्गलों का स्वभाव है।' उसने राजा के भाव की तीव्रता को अपनी भावभंगी से मंद कर दिया। बात वहीं समाप्त हो गई। कुछ दिन बाद मंत्री ने राजा को अपने घर भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन के मध्य राजा ने पानी पीया—अत्यन्त निर्मल, अत्यन्त मधुर और अत्यन्त सुगंधित। राजा बोला—'मंत्री! यह पानी तुम कहां से लाते हो? इच्छा होती है एक गिलास और पीऊं। मैं तुम्हें अभिन्न मानता हूं, किन्तु तुम मुझे वैसा नहीं मानते। तुम इतना अच्छा पानी पीते हो, मुझे कभी नहीं पिलाते। मंत्री मुस्कराया और बोला—महाराज! यह पानी उसी खाई से लाता हूं, जहां आपने नाक-भौं सिकोड़ी थी और कपड़े से नाक ढंकी थी।' राजा ने कहा—'यह नहीं हो सकता। यह पानी उसी खाई का कैसे हो सकता है?' मंत्री अपनी बात पर अटल रहा। राजा ने प्रमाण चाहा। मंत्री ने उसी खाई का पानी मंगवाया। राजा की देख-रेख में सारी प्रक्रियाएं चलीं और वह पानी वैसा ही निर्मल, मधुर सुगंधित हो गया जैसा राजा ने मंत्री के घर पिया था। केवल पानी ही क्या हर वस्तु बदलती है। परिणमन का चक्र चलता रहता है, वस्तुएं बदलती रहती हैं। 'ओघ' शक्ति की दृष्टि से हम किसी पौद्गलिक पदार्थ को काला या पीला, खट्टा या मीठा, सुगंधमय या दुर्गन्धमय, चिकना या रूखा, ठंडा या गर्म, हल्का या भारी, मृदु या कर्कश नहीं कह सकते। एक नीम के पत्ते में वे सारे धर्म विद्यमान हैं जो दुनिया में होते हैं। किन्तु 'समुचित' शक्ति की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसके आधार पर देखें तो नीम का पत्ता हरा है, चिकना है। उसकी अपनी एक सुगंध है। वह हल्का है और मृदु है। हमारा जितना दर्शन है, वह आनुभविक और प्रात्ययिक है।

5.8 परिणमन का सिद्धान्त और विज्ञान

पर्याय-परिवर्तन के द्वारा वस्तुओं में बहुत सारी बातें घटित होती हैं। उसमें ऊर्जा की वृद्धि और हानि भी है। ऊर्जा परिणमन के द्वारा ही प्रकट होती है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इस द्रव्यमान, द्रव्य-संहति और शक्ति के समीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या परिणामी-नित्यवाद के द्वारा ही की जा सकती है। आइन्स्टीन से पहले वैज्ञानिक जगत् में यह माना जाता था कि द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में नहीं बदला जा सकता। दोनों स्वतंत्र हैं। किन्तु आइन्स्टीन के समय से यह सिद्धान्त बदल गया। यह माना जाने लगा कि द्रव्य और शक्ति—ये दोनों भिन्न नहीं किन्तु एक ही वस्तु के रूपान्तरण हैं। एक पौंड कोयला लें और उसकी द्रव्य-संहति को शक्ति में बदलें तो दो अरब किलोवाट की विद्युत शक्ति प्राप्त हो सकती है।

जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो या पुद्गल। काल की अनन्त- धारा में वही द्रव्य अपना अस्तित्व रख सकता है जिसमें अनन्त-शक्ति होती है। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती रहती है। आज के वैज्ञानिक जगत् में जितना प्रयोग हो रहा है, उसका क्षेत्र पौद्गलिक जगत् है। पौद्गलिक वस्तु को उस स्थिति में ले जाया जा सकता है, जहां उसकी स्थूलता समाप्त हो जाए, उसका द्रव्य-मान या द्रव्य-संहति समाप्त हो जाए और उसे शक्ति के रूप में बदल दिया जाए।

जैनदर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों से विश्व की व्याख्या की है। हम विश्व को अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब हमारे सामने द्रव्य होता है। यह नीम, मकान, आदमी, पशु—ये द्रव्य ही द्रव्य हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हम विश्व को जब भेद या विस्तार की दृष्टि से देखते हैं तब वह द्रव्य लुप्त हो जाता है। हमारे सामने होता है—पर्याय और पर्याय। परिणमन और परिणमन। आदमी कौन होता है? आदमी कोई द्रव्य नहीं है। आदमी है कहां? आप सारी दुनिया में ढूंढें, आदमी नाम का कोई द्रव्य आपको नहीं मिलेगा। आदमी एक पर्याय है। नीम कोई द्रव्य नहीं है। वह एक पर्याय है। दुनिया में जितनी वस्तुओं को हम देख रहे हैं, वे सारी की सारी पर्यायें हैं। हम पर्याय को देख रहे हैं। द्रव्य हमारे सामने नहीं आता। वह आंखों से ओझल रहता है। इस सत्य को आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों में प्रकट किया था—**अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानं।**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

—हम अभेद के परिपार्श्व में चलें तो पर्याय लुप्त हो जाएगा, बचेगा द्रव्य। हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी। विस्तार शून्य हो जाएगी। हम भेद के परिपार्श्व में चलें तो द्रव्य लुप्त हो जाएगा, बचेगा पर्याय। हमारी दुनिया बहुत बड़ी हो जाएगी। भेद अभेद को निगल जाएगा। केवल विस्तार और विस्तार। परिणमन के जगत् में जैसा जीव है, वैसा ही पुद्गल है। किन्तु इस विश्व में जितनी अभिव्यक्ति पुद्गल द्रव्य की है, उतनी किसी में नहीं है। अपने रूप को बदल देने की क्षमता जितनी पुद्गल में है, उतनी किसी में नहीं है। हमारे जगत् में व्यक्त पर्याय का आधारभूत द्रव्य यदि कोई है तो वह पुद्गल ही है।

5.9 सारांश–इस पाठ में हमने त्रिपदी सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ कैसे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखते हुए परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरकर नवीन रूपों को धारण करता है—इस बात की जानकारी प्राप्त की।

5.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. त्रिपदी सिद्धान्त के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. परिणामि-नित्यत्ववाद से आप क्या समझते हैं? उसकी वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालें।

अथवा

द्रव्य और पर्याय के सिद्धान्त को स्पष्ट करें।

2. ओघ और समुचित शक्ति को सोदाहरण समझाइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक पंक्ति में उत्तर दें:

1. सहभावी धर्म किसके सूचक हैं?
2. क्रमभावी धर्म किसके सूचक हैं?
3. कूटस्थ नित्य के सिद्धान्त का आधार क्या है?
4. क्षणिकवाद का आधार क्या है?
5. द्रव्य किसका आधार है?
6. स्वाभाविक परिणमन और प्रायोगिक परिणमन कैसे होते हैं?
7. परिणमन का मुख्य हेतु क्या है?
8. जैनदर्शन में सृष्टि की व्याख्या का आधार क्या है?
9. हम जो कुछ देख रहे हैं वह क्या है?
10. परिणामि-नित्यत्ववाद के द्वारा किस वैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या संभव है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग : 3

इकाई-6 : कर्म का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 कर्म का स्वरूप
6.3 जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप
6.4 अमूर्त्त का मूर्त से बन्ध कैसे?
6.5 कब से बंधा है कर्म?
6.6 अनादि का अन्त कैसे?
6.7 कैसे बंधते है कर्म?
6.8 कर्म के भेद-प्रभेद
6.9 कर्म के उत्तर भेद
6.9.1 ज्ञानावरण कर्म-बन्ध के कारण
6.10 दर्शनावरण कर्म
6.10.1 दर्शनावरण कर्म बन्ध के कारण
6.11 वेदनीय कर्म
6.11.1 वेदनीय कर्म बन्ध के कारण
6.12 मोहनीय कर्म
6.12.1 दर्शन मोहनीय
6.12.2 चारित्र मोहनीय
6.13 आयु कर्म
6.13.1 आयु कर्म के बन्ध सम्बन्धी विशेष नियम
6.13.2 आयु-बन्ध के कारण
6.14 नाम-कर्म
6.14.1 नाम-कर्म के बन्ध
6.15 गोत्र -कर्म
6.15.1 गोत्र-कर्म के बन्ध का कारण
6.16 अन्तराय-कर्म
6.16.1 अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण
6.17 सारांश
6.18 अभ्यास प्रश्नावली

6.0 प्रस्तावना

इस विशाल जगत् और अपने जीवन में जब हम झांककर देखते हैं, तो हमें अनेक रूप विविधताएं दिखाई पड़ती हैं। जगत् विविधताओं का केन्द्र है तथा जीवन विषमताओं से भरा है। जगत् में कोई सुखी, कोई दु:खी, कोई निर्धन, कोई धनवान्, कोई ऊंचा, कोई नीचा, कोई पण्डित, कोई मूर्ख, कोई सुन्दर, कोई कुरूप, कोई दुर्बल, कोई बलवान्, कोई उन्मत्त, कोई विद्वान्, कहीं जीवन, कहीं मरण, कोई बड़ा, कोई छोटा आदि अनेक विविधताएं पाई जाती हैं। सर्वत्र वैचित्र्य ही दिखता है तथा जीवन में भी अनेक विषमताएं हैं। हमारा जीवन भी आशा-निराशा, सुख-दु:ख, प्रसन्नता- अप्रसन्नता, हर्ष-विषाद, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजर रहा है। जीवन में कहीं समरूपता नहीं है। जगत् की इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई न कोई तो हेतु होना ही चाहिए। वह हेतु है ''कर्म''। कर्म ही जगत् की विविधता और जीवन की विषमता का जनक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6.1 उद्देश्य- प्रस्तुत पाठ में हम कर्म सिद्धान्त तथा उसके विभिन्न प्रकारों की मुनिश्री प्रमाणसागरजी की भाषा में अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में जानकारी प्राप्त करेंगे।

6.2 कर्म का स्वरूप

जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। सामान्यत: कर्म सिद्धान्त का यही अभिप्राय है। कर्म को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं सिर्फ चार्वाक को छोड़कर, क्योंकि वह तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकारता। इस सिद्धान्त में एक मत होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के सम्बन्ध में सबकी अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। ''कर्म'' का शाब्दिक अर्थ ''कार्य'', प्रवृत्ति अथवा क्रिया होता है, अर्थात् जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे—हंसना, रोना, चलना, दौड़ना, खाना, पीना आदि। व्यवहार में काम-धंधे या व्यवसाय को ''कर्म'' कहा जाता है। कर्मकाण्डी मीमांसक, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। स्मृतियों में चार वर्णों और चार आश्रमों के योग्य कर्त्तव्यों को कर्म कहा गया है। पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म मानते हैं। वैय्याकरण, जो कर्त्ता के लिए इष्ट हो, उसे कर्म मानते हैं। न्याय-शास्त्र में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पांच प्रकार की क्रियाओं के लिए ''कर्म'' शब्द का प्रयोग किया जाता है। योग-दर्शन में संस्कार को ''अपूर्व वासना'' अथवा ''कर्म'' कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन में कर्म वासना रूप है। जैन-दर्शन से कर्मविषयक मान्यता इन सबसे पृथक् है। जैन सिद्धान्त में जो कर्म-सिद्धान्त का विवेचन मिलता है वह अत्यन्त विशद तथा अर्थपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म का अर्थ कायिक क्रियाकाण्डों एवं अन्य प्रवृत्तियों से नहीं है। न ही बौद्धों और वैशेषिकों की तरह संस्कार मात्र है, अपितु कर्म एक पृथक् सत्ताभूत सूक्ष्म जड़ पदार्थ भी है।

6.3 जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप

जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। तदनुसार, यह लोक तेईस प्रकार की पुद्गल-वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल-परमाणु कर्म रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं। कुछ शरीर रूप में परिणत होते हैं वे नोकर्म-वर्गणा कहलाते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और कार्य की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध हो तथा जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होते हैं, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से कर्म की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्य-कारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप कर्म को ''द्रव्य-कर्म'' तथा रागद्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को ''भाव- कर्म'' कहा गया है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म का कार्य-कारण सम्बन्ध वृक्ष और बीज के समान अनादि है। जगत् की विविधता का कारण उक्त द्रव्य-कर्म ही है, तथा राग-द्वेषादि मनोविकार रूप भाव कर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते हैं।

6.4 अमूर्त्त का मूर्त्त से बन्ध कैसे?

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा सहज ही हो जाती है कि जीव चेतनावान्, अमूर्त्त पदार्थ है तथा कर्म पौद्गलिक पिण्ड। तब मूर्त्त का अमूर्त्त आत्मा से बन्ध कैसे होता है? मूर्त्तिक का मूर्त्तिक से सम्बन्ध तो उचित है, किंतु मूर्त्तिक का अमूर्त्तिक से सम्बन्ध कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकान्तात्मक शैली में दिया है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बन्धन-बद्ध होने के कारण मूर्त्तिक भी माना गया है। बन्ध पर्याय में एकत्व होने के कारण आत्मा को मूर्त्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्त्तिक कहा गया है। इस प्रकार किसी दृष्टि से मूर्त्त होने से उसका मूर्त्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाता है।

जिस प्रकार घी मूलत: दूध में उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुन: दूध रूप में परिणत करना असम्भव है अथवा जिस प्रकार स्वर्ण मूलत: पाषाण में पाया जाता है, परन्तु एक बार पाषाण से पृथक् होकर स्वर्ण बन जाने पर उसे उस प्रकार की किट्टिमा के साथ मिला पाना असम्भव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलत: कर्मबद्ध (सशरीरी) पाया जाता रहा है, परन्तु एक बार कर्मों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुन: इसका शरीर के साथ सम्बन्ध हो पाना असम्भव है। जीव मूलत: अमूर्त्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण वह मूलत: अमूर्त्तिक न होकर, कथञ्चित् मूर्त्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त्त कर्मों के साथ बन्ध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। हां, एक बार मुक्त हो जाने पर अवश्य वह सर्वथा अमूर्त्तिक हो जाता है और तब कर्म के साथ उसके बन्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.5 कब से बंधा है कर्म?

जैसे स्वर्ण-पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिमा और किट्टिमा से संयुक्त विकृति-रूप होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है, उसी तरह संसारी जीवों का कर्मों से अनादि-सम्बन्ध है। जैन-दर्शन के अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बंधा हुआ है। तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। जीव कभी शुद्ध था, फिर अशुद्ध हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि वह शुद्ध था तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही नहीं बनता। यदि एक बार शुद्ध होकर भी वह अशुद्ध होता है, तब तो मुक्ति के उपाय की बात ही निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि ''जीव और कर्म का अनादिकाल से सम्बन्ध है। इन कर्मों के कारण ही संसार की नाना योनियों में भटकता हुआ यह जीव सदा से दु:खों का भार उठाता आ रहा है।'' कर्म-बन्ध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्द-कुन्द स्वामी ने अपने ''पञ्चास्तिकाय'' ग्रंथ में कहा है कि—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सु गदि।।

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायन्ते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा।।

जायदि जीवस्सेवं भावं संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेंहिं भणिदं अणादि णिहणो सणिहणो वा।।

संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इन्द्रियां होती हैं, इनसे विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसार रूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बन्ध तथा कर्म-बन्ध से जीव के भाव, सन्तति (प्रवाह) की अपेक्षा अनादि से चला आ रहा है। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादिसांत।

6.6 अनादि का अन्त कैसे?

ऐसा नहीं है कि इस अनादि कर्म-बन्ध का अन्त असम्भव ही हो। इस विवेचन में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से घड़ी यंत्र की भांति सतत चलता रहता है तथा जब तक राग-द्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती तब तक यह कर्म-चक्र निर्बाध रूप से चलता रहता है। राग-द्वेष के अभाव में क्रियाएं कर्म-बन्ध नहीं करातीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ''समयसार'' में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूल-पूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र सञ्चालन करता है और ताड़, केला, बांस आदि के वृक्षों का छेदन करता है, उस समय वह धूल उड़कर उसके शरीर से चिपक जाती है। वस्तुत: देखा जाये तो उस व्यक्ति का शस्त्र-सञ्चालन शरीर में धूल चिपकाने का सही कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप ही है, जिससे धूल का सम्बन्ध होता है। मूल कारण है कि जब व्यक्ति बिना तेल लगाए पूर्वोक्त क्रियाएं करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनन्त-शक्ति सम्पन्न जीवात्मा, कठपुतली की तरह, कर्मों के इशारे पर नाचा करता है। जीव और कर्म के सम्बन्ध को सन्तति की अपेक्षा अनादि मानते हुए भी पर्याय की दृष्टि से सादि माना गया है। बीज और वृक्ष के सम्बन्ध पर दृष्टि डालें तो संतति की अपेक्षा उनका कारण-कार्य भाव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि-सम्बन्ध सूचित करेंगे। किन्तु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्य वृक्ष के जनक अन्य बीज की परम्परा पर दृष्टि डालें तो इस दृष्टि से यह सम्बन्ध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है उसका अन्त नहीं हो सकता, किंतु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अनन्त ही है। वह अनन्त भी हो सकती है तथा विरोधी कारण के आ जाने पर अनन्त होने वाले सम्बन्ध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है, कहा भी है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।

अर्थात् बीज के जल जाने पर पुनः नवीन वृक्ष का निमित्त बनने वाला अंकुर उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नही होता। इस प्रकार बीज और वृक्ष की संतति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध है। जीव के अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल-वर्गणाएं कर्म रूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्म-रूप नही होता तथा कर्म जीव-रूप नही होता। दोनो के निमित्त से संसार-चक्र चलता रहता है।

6.7 कैसे बंधते हैं कर्म?

जैन दर्शन के अनुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहां कर्म योग्य पुद्गल परमाणु न हो। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्म योग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण जीवात्मा से चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्म-बन्ध के दो ही कारण माने गये हैं—योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं तथा क्रोधादिक-विकार कषाय के अन्तर्गत हैं। वैसे कषायों के अनेक भेद हो सकते हैं, किंतु स्थूल रूप से दो भेद किये गये हैं—"राग और द्वेष"। राग-द्वेष युक्त शारीरिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति ही कर्म-बन्ध का कारण है। वैसे तो सभी क्रियाएं कर्मोपार्जन का हेतु बनती हैं, किंतु जो क्रियाएं कषाय-युक्त होती हैं उनसे होने वाला बन्ध बलवान् होता है, जबकि कषायरहित क्रियाओं से होने वाला बन्ध निर्बल और अल्पायु होता है। इसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। इस प्रकार योग एवं कषाय कर्म बन्ध के प्रमुख कारण हैं।

6.8 कर्म के भेद-प्रभेद

जैन कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियां प्रकार हैं, जो प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। वे हैं—1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अन्तराय।

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाति हैं, क्योंकि इनसे आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात होता है। शेष चार कर्म अघाति हैं, क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करते, बल्कि आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करते हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु वैभाविक है।

ज्ञानावरण कर्म से आत्मा के ज्ञान गुण का घात होता है। दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन-गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक् श्रद्धा और चरित्र-गुण को नष्ट करता है। अन्तराय कर्म से जीव का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। वेदनीय कर्म जीव को सुख-दुःख का वेदन/अनुभव कराता है। आयु कर्म से आत्मा को नरक आदि गतियों की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के कारण जीव को चित्र-विचित्र शरीर और गतियां मिलती हैं तथा गोत्र कर्म प्राणियों में उच्चत्व और नीचत्व का कारण है। इन आठ कर्मों के कार्यों को दर्शाने के लिए आठ उदाहरण दिये गये हैं।[1] "ज्ञानावरणीय" कर्म का कार्य कपड़े की पट्टी की तरह है। जिस प्रकार आंख पर बंधी पट्टी दृष्टि की प्रतिबन्धक है, वैसे ही ज्ञानावरण-कर्म ज्ञान-गुण को प्रकट नहीं होने देता। दर्शनावरणीय कर्म प्रतिहारी की तरह है। जिस प्रकार द्वारपालों की सहमति के बिना किसी महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दर्शनावरण-कर्म जीव को वस्तु के सामान्य बोध को करने से रोकता है। "वेदनीय" कर्म तलवार की धार पर लगे शहद के स्वाद की तरह होता है, जो एक क्षण को सुख देता है, पर उसका परिणाम दुःखद होता है। "मोहनीय" कर्म मद्य की तरह है। जिस प्रकार मद्य के नशे में व्यक्ति को अपने हित-अहित का विचार नहीं रहता तथा वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किये बिना कुछ भी आचरण करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी जीव को विवेक-शून्य कर उसकी आचार और विचार शक्ति को विकारी बना देता है। "आयु" कर्म खूंटे की तरह है। जिस तरह खूंटे से बंधा पशु उसके चारों ओर ही घूमता है, वैसे ही आयु कर्म से बंधा जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। "नाम" कर्म चित्रकार की तरह है। जिस प्रकार चित्रकार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार नाम कर्म जीव के चित्र-विचित्र शरीर का निर्माण करता है। "गोत्र" कर्म कुम्हार की तरह है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े बर्तनों का निर्माण करता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म के कारण जीव उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न होता है। "अन्तराय" कर्म भण्डारी की तरह है। जिस प्रकार भण्डारी की सहमति के बिना राजकोष से धन नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार अन्तराय कर्म जीव की अनन्त-शक्ति का प्रतिघात करता है। इस प्रकार ये आठ कर्म के मूल भेद हैं, किंतु इनकी उत्तर प्रकृतियां (प्रभेद) 148 हो जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.9 कर्म के उत्तर भेद

1. ज्ञानावरण कर्म—ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को आच्छादित/आवृत्त करता है, जिसके कारण संसार अवस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। जिस प्रकार देवता की मूर्त्ति पर ढका हुआ वस्त्र देवता को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञान को आच्छादित किये रहता है। इतना होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूर्णरूप से आवृत्त नहीं कर पाता। जिस प्रकार दिन में सघन-बादलों से आच्छादित रहने पर भी सूर्य के प्रकाश का अभाव पूर्णरूप से नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का तीव्रतम उदय होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूरी तरह से नष्ट/आवृत्त नहीं कर सकता, जिससे कि जीव सर्वथा ज्ञान-शून्य होकर जड़वत् हो जाये। ज्ञानावरण कर्म के पांच उत्तर भेद हैं—1. मति- ज्ञानावरण, 2. श्रुत-ज्ञानावरण, 3. अवधि-ज्ञानावरण, 4. मन:पर्यय-ज्ञानावरण, 5. केवल-ज्ञानावरण। प्रथम चारों कर्म क्रमश: मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान को आवृत्त तथा हीनाधिक करते हैं और पांचवां केवल ज्ञानावरण कर्म केवलज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता।

6.9.1 ज्ञानावरण कर्म-बन्ध के कारण—निम्न कारणों से ज्ञानावरण कर्म का विशेष बन्ध होता है—

1. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष रखने से।
2. ज्ञान-दाता गुरुओं का नाम छिपाने से।
3. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों को नष्ट करने से।
4. ज्ञान के साधनों की विराधना करने से।
5. किसी के ज्ञान में बाधा डालने से।

6.10 दर्शनावरण कर्म—पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किये बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन है। दर्शनावरण कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत्त करता है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बन्द हो जाता है। इसकी तुलना राजा के द्वारपाल से की जा सकती है। द्वारपाल राजा से मिलने में किसी व्यक्ति को बाधा पहुंचाता है। जिस प्रकार द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नहीं मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरण कर्म वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है। पदार्थों को देखने में अड़चन डालता है। इसकी नौ उत्तर प्रकृतियां हैं—1. चक्षु- दर्शनावरण, 2. अचक्षु-दर्शनावरण, 3. अवधि-दर्शनावरण, 4. केवल-दर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचला-प्रचला, 9. स्त्यान-गृद्धि।

''चक्षु दर्शनावरण कर्म'' नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है। चक्षु के अलावा शेष इन्द्रियों से होने वाले सामान्य बोध को ''अचक्षु-दर्शनावरण'' रोकता है। ''अवधि-दर्शनावरण'' इन्द्रिय और मन के बिना होने वाले रूपी पदार्थ के सामान्य बोध को रोकता है तथा केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्यों और पर्यायों के युगपत् होने वाले सामान्य अवबोध को व्यक्त नहीं होने देता। हल्की नींद को निद्रा कहते हैं। ऐसी नींद कि प्राणी आवाज लगाते ही जाग उठे, ''निद्रा कर्म'' से उत्पन्न होती है। ''निद्रा-निद्रा'' कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, जिससे प्राणी बड़ी मुश्किल से जाग पाता है। प्रचला कर्म के उदय से जीव खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही सो जाया करता है। प्रचला-प्रचला कर्म के उदय से नींद में मुख से लार बहने लगती है तथा हाथ-पैर आदि चलायमान हो जाते हैं। ''स्त्यान-गृद्धि कर्म'' के उदय से ऐसी प्रगाढ़तम नींद आती है, जिससे व्यक्ति दिन में या रात्रि में उठना-बैठना, चलना आदि अनेक क्रियाएं निद्रावस्था में ही सम्पन्न कर देता है।

निद्रा में आत्मा का अव्यक्त उपयोग होता है, अर्थात् उसे वस्तु का सामान्य आभास नहीं हो सकता। इसलिए ''निद्रा'' के पांच भेदों को दर्शनावरण कर्म के उत्तर भेदों में परिगणित किया गया है। चक्षु-दर्शनावरण आदि चारों दर्शनावरणी-कर्म दर्शन-शक्ति की प्राप्ति में बाधक होते हैं।

6.10.1 दर्शनावरण कर्म-बन्ध के कारण—जिन कारणों से ज्ञानावरण कर्म का बन्ध होता है, दर्शनावरण कर्म भी उन्हीं साधनों से बंधता है। अन्तर केवल इतना है कि यहां ज्ञान और ज्ञान के साधन न होकर, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति वैसा व्यवहार होने पर, दर्शनावरणी बन्धता है।

6.11 वेदनीय कर्म—जो कर्म-जीव को सुख या दु:ख का अनुभव कराता है, वह वेदनीय कर्म है।[7] यह दो प्रकार का होता है—1. साता वेदनीय एवं 2. असाता वेदनीय। जिस कर्म उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों के संयोग से सुख का अनुभव होता है, वह ''साता'' वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों का संयोग होने पर दु:ख का संवेदन होता है वह ''असाता'' वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार से की गयी है। जिस प्रकार शहद से लिप्त तलवार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की धारा को चाटने से पहले अल्प-सुख और फिर अधिक दु:ख होता है, वैसे ही पौद्गलिक सुख में दु:खों की अधिकता होती है। मधु को चाटने के समान, साता-वेदनीय है और जीभ कटने की तरह असाता-वेदनीय है।

6.11.1 वेदनीय कर्म-बन्ध के कारण—सभी प्राणियों पर अनुकम्पा रखने से, व्रतियों की सेवा करने से, दान देने से, हृदय में शांति और पवित्रता रखने से, साधुओं या श्रावकों के व्रत पालन करने में, कषायों को वश में रखने से साता-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

इसके विपरीत, स्वपर को दु:ख देने से, शोकमग्न रहने से, किसी को पीड़ा पहुंचाने आदि आचरण करने से दु:ख के कारणभूत असात वेदनीय कर्म का बन्ध होता है। असाता वेदनीय कर्म के फलस्वरूप देह सदा रोग-पीड़ित रहती है तथा बुद्धि और शुभ क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। यह प्राणी अपने हित के उद्योग में तत्पर नहीं हो सकता।

6.12 मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, वह मोहनीय कर्म है। इस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसलिए इसे ''कर्मों का राजा'' कहा गया है। समस्त दु:खों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसीलिए इसे ''अरि'' या ''शत्रु'' भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय के अधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है, तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोहनीय के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। यह आत्मा के वीतराग-भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है, जिससे आत्मा राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्वपर-विवेक एवं स्वरूप-रमण में बाधा डालता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है। जैसे मदिरा पीने से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता। वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद-विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों में उलझ जाता है।

दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय के भेद से मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—

6.12.1 दर्शन मोहनीय—यहां ''दर्शन'' का अर्थ-तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप आत्मगुण है। आप्त, आगम या सत्पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। जो उस दर्शन को मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे ''दर्शन मोहनीय'' कर्म कहते हैं; जैसे मदिरा-पीने से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है, वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। यह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता है। वह तत्त्व को अतत्त्व, अतत्त्व को तत्त्व तथा धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगता है।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—1. मिथ्यात्व, 2. सम्यक्-मिथ्यात्व, 3. सम्यक्त्व प्रकृति।

1. मिथ्यात्व कर्म—जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न कराता है, वह ''मिथ्यात्व'' कर्म है। इस कर्म के उदय से जीव की वह मूढ़ अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

2. सम्यक्-मिथ्यात्व—यह कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न कराता है। इस कर्म के उदय से न तत्त्व के प्रति रूचि रहती है, न अतत्त्व के प्रति। इसलिए इसे मिश्र-मोहनीय कर्म भी कहते हैं। यह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित रूप है।

3. सम्यक्त्व प्रकृति—जो कर्म सम्यक्त्व को तो नहीं रोकता, किंतु उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न करता है, वह ''सम्यक्त्व'' मोहनीय कर्म है।

इस प्रकार मित्थात्व-प्रकृति अश्रद्धा रूप होती है तथा सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति श्रद्धा और अश्रद्धा से मिश्रित होती है तथा सम्यक्त्व-प्रकृति से श्रद्धा में शिथिलता या अस्थिरता होती है, जिसके कारण चल, मलिन और अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह प्रकृति सम्यक्त्व का घात तो नहीं करती, परन्तु शंका आदि दोषों को उत्पन्न करती है।

6.12.2 चारित्र मोहनीय—पाप कारी क्रिया की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पाप है। इनके त्याग को चारित्र कहते हैं। इस चारित्र के विघातक कर्म को चारित्र-मोहनीय कहते हैं अथवा अपने स्वरूप में रमण करना चारित्र है। जो उस चारित्र का विघातक है, उसे ''चारित्र मोहनीय'' कहते हैं। कषाय-वेदनीय और नोकषाय—वेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं। कषाय वेदनीय मुख्य रूप से चार प्रकार का है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4. लोभ।

क्रोध आदि चारों कषाय तीव्रता व मन्दता की दृष्टि से चार-चार प्रकार की होती हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन। इस प्रकार कषाय वेदनीय के कुल सोलह भेद हो जाते हैं, जिनके उदय से क्रोधादिक भाव होते हैं।

(अ) अनन्तानुबन्धी—अनन्तानुबन्धी के प्रभाव से जीव को अनंतकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ता है। इसके उदय में सम्यक्त्व और चारित्र दोनों ही नहीं हो पाते।

(ब) अप्रत्याख्यान—''प्रत्याख्यान'' का अर्थ होता है ''त्याग''। जिस कषाय के उदय से ईषत् त्याग अर्थात् देश संयम भी ग्रहण न किया जा सके, वह अप्रत्याख्यान कषाय है।

(स) प्रत्याख्यान—जिस कषाय के उदय से सकल-संयम को ग्रहण न किया जा सके वह ''प्रत्याख्यान'' कषाय है।

(द) सञ्ज्वलन—जिस कषाय के उदय से सकल-संयम तो हो जाए, किंतु आत्म-स्वरूप में स्थिरता रूप यथाख्यात चारित्र न हो, उसे ''सञ्ज्वलन'' कषाय कहते हैं।

क्रोध चतुष्क—उक्त अनन्तानुबन्धी आदि कषायों की शक्ति में तरतमता है। इन्हें जैनाचार्यों ने विविध उदाहरणों से स्पष्ट किया है। अनन्तानुबन्धी क्रोध को पाषाण की गहरी दरार की तरह कहा गया है, जो एक बार फटने के बाद पुनः नहीं मिलती। उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय का सम्बन्ध भव-भवों तक नहीं छूटता। ''अप्रत्याख्यान'' के क्रोध को भूमि की दरार की तरह कहा गया है। जैसे गर्मी के दिनों में सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने से दरारें पड़ जाती हैं, किन्तु वर्षा होते ही वे दरारें मिट जाती हैं, उसी प्रकार अप्रत्याख्यान कषाय गुरुओं के उपदेशामृत की वर्षा से धीरे-धीरे शान्त हो जाती है। इसका प्रभाव अधिकतम छह माह तक रहता है। प्रत्याख्यान क्रोध उससे अल्पशक्ति वाली है, इसे धूल की लकीर की तरह कहा गया है जैसे धूल में अंकित लकीर थोड़ी-सी हवा के प्रभाव से मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होकर शीघ्र ही शान्त हो जाती है। यह अधिक से अधिक पन्द्रह दिनों तक अपना प्रभाव दिखाती है। संज्वलन क्रोध को ''जल की लकीर'' की तरह कहा गया है। जैसे जल की लकीर खींचते ही मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होते ही शान्त हो जाती है। इसका वासनाकाल (संस्कार) अन्तर्मुहूर्त कहा गया है।

मान चतुष्क इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के मान को क्रमशः शैल, अस्थि, काष्ठ तथा बेल (लता) की उपमा दी गयी है। जैसे शैलादिकों में कड़ापन उत्तरोत्तर अल्प होता है, वैसे ही ये चारों कषाय उत्तरोत्तर मन्द प्रभाव वाले हैं। अनन्तानुबन्धी मान के उदय से पत्थर की तरह स्तब्धता होती है। इस कषाय वाले व्यक्तियों को झुकना दुःसाध्य होता है। अप्रत्याख्यान मान अस्थि की तरह कठोर होता है। इनमें मान की अपेक्षाकृत कमी रहती है। प्रत्याख्यान मान काष्ठ की तरह कठोर होता है। इस कषाय वाले जीव अधिक अभिमानी नहीं होते। संज्वलन मान को लता की तरह कहा गया है। ऐसे जीव विनम्रता की मूर्त्ति होते हैं। इन्हें कोमल लता की तरह कहीं भी मोड़ा झुकाया जा सकता है।

माया चतुष्क—अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार की माया क्रमशः बांस की गठीली जड़, भेड़ के सींग, गोमूत्र और छिलते हुए बांस की छाल के सदृश कुटिल कही गयी है। इनका प्रभाव भी उत्तरोत्तर अल्प है।

अनन्तानुबन्धी माया बांस की जड़ के समान कुटिल होती है। बांस की जड़ इतनी वक्र होती है कि उसमें कुटिलता के अतिरिक्त कुछ होता ही नहीं। ऐसी माया व्यक्ति को धूर्तता के शिखर पर पहुंचा देती है। अप्रत्याख्यान माया भेड़ के सींग की तरह है। भेड़ के सींग में बांस की जड़ की तरह कुटिलता नहीं होती फिर भी उस व्यक्ति में काफी टेढ़ापन होता है। इस कषाय वाला जीव टेढ़ा होता है। प्रत्याख्यान माया चलते हुए बैल की मूत्रधारा टेढ़ी-मेढ़ी होने पर भी उलझी हुई नहीं होती इस कषाय वाले जीव अपेक्षाकृत कम कुटिल होते हैं, संज्वलन माया कषाय छिलते हुए बांस की छाल के समान है। छिलते हुए बांस की छाल टेढ़ी-मेढ़ी होती है, पर वह सरलता से सीधी हो जाती है। ऐसे जीव सरल होते हैं।

लोभ चतुष्क—चारों प्रकार के लोभ को क्रमशः किरमिजी का दाग, पहिये का औंगन (अक्षमल), कीचड़ एवं हल्दी के रंग की तरह कहा गया है। अनन्तानुबन्धी किरमिजी के रंग के सदृश है, जो कि किसी भी उपाय से नहीं छूटता। अप्रत्याख्यान लोभ गाड़ी के पहिये में लगने वाले (औंगन) मल की तरह है, जो कठिनता से छूटता है। प्रत्याख्यान लोभ कीचड़/काजल की तरह है, जो अल्प परिश्रम से छूट जाता है। संज्वलन लोभ हल्दी के सदृश है, जो सहज ही छूट जाता है। उक्त चारों कषायें क्रमशः नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव गति में उत्पत्ति के कारण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपर्युक्त सोलह कषायों की शक्ति को निम्न सारणी से स्पष्ट कर सकते हैं—

कषाय की अवस्था	क्रोध	मान	माया	लोभ	फल
अनन्तानुबन्धी	शिला-रेखा	शैल	बांस की जड़	किरमिजी	नरक गति
अप्रत्याख्यान	पृथ्वी रेखा	अस्थि	भेड़ का सींग	अक्षमल (आँगन)	तिर्यञ्च गति
प्रत्याख्यान	धूली	काष्ठ	चलते हुए बैल की मूत्र-धारा की तरह	कीचड़	मनुष्य गति
संज्वलन	जल	लता/	छिलते हुए बांस की छाल की तरह	हल्दी	देव गति

नोकषाय वेदनीय—जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों से प्रेरित होता है, वह नोकषाय है।[1] इन्हें अकषाय भी कहते हैं। नोकषाय अकषाय का तात्पर्य कषायों का अभाव नहीं, अपितु ईषत् कषाय है। इनके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद। इनका अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार दर्शन-मोहनीय के तीन तथा कषाय-वेदनीय के सोलह और नोकषाय वेदनीय के नौ मिलकर मोहनीय कर्म के मूल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

6.12.3 मोहनीय कर्म के बन्ध का कारण—सत्यमार्ग की अवहेलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से तथा आचार्य, उपाध्याय, गुरु, साधु-संघ आदि सत्य-पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप जीव अनन्त संसार का पात्र बनता रहता है।

स्वयं पाप करने से तथा दूसरों को कराने से, तपस्वियों की निन्दा करने से, धार्मिक कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य-मांस आदि का सेवन करने और कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

6.13 आयु कर्म

जीव की किसी विवक्षित शरीर में टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्म "आयु" कर्म कहलाता है। जीवों के जीवन की अवधि का नियामक आयु कर्म है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है। और क्षय होने पर मृत्यु के मुख में जाता है। मृत्यु का कोई देवता या उस जैसी कोई अन्य शक्ति नहीं है। अपितु आयु कर्म के सद्भाव और क्षय पर ही जन्म और मृत्यु अवलम्बित है। इस कर्म की तुलना कारागार से की गयी है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय के लिए कैद में डाल देता है। अपराधी की इच्छा होने पर भी वह अपनी अवधि को पूर्ण किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव देह-मुक्त नहीं हो सकता। आयु कर्म का कार्य सुख-दुःख देना नहीं है, किन्तु निश्चित समय तक किसी एक भव में रोके रहना मात्र है।

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।

कारण प्राप्त होने पर जिस आयु की काल-मर्यादा में कमी हो सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं तथा बड़े-बड़े कारण आने पर भी निर्धारित आयु की काल-मर्यादा एक क्षण को भी कम न हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु विष-भक्षण, वेदना, रक्त-क्षय, शस्त्र-घात, पर्वत से पतन आदि निमित्तों के मिलने से अपनी अवधि से पूर्व ही समाप्त हो सकती है। इसे ही "अकालमरण" या "कदलीघात" मरण कहते हैं। जैसे यदि किसी की 100 वर्ष की आयु है तो यह अनिवार्य नहीं कि वह 100 वर्ष तक ही जीवित रहे। वह 100 वर्ष की अवधि में कभी भी मरण प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी शेष आयु को अगली योनि या जन्म में जाकर भोगता है, अपितु मृत्यु के क्षण में ही वह अपनी शेषायु को भोग लेता है। जैन-दर्शन के नियमानुसार आयु के क्षय होने पर ही मरण होता है। जब तक वर्तमान भव की आयु कर्म का एक भी परमाणु शेष रहता है, तब तक मरण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से एक आयु को दूसरी योनि में जाकर भोगना मात्र कल्पना की उड़ान है।

इसे ऐसे समझें—किसी पेट्रोमेक्स में इतना तेल भरा हो, कि वह अपने क्रम से जलने पर छह घण्टे जलता है। यदि उसका बर्नर लीक करने लगे, तो वह पूरा तेल जल्दी ही जल जाता है तथा टैंक के फट जाने पर तो सारा तेल उसी क्षण जल जाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। इसी प्रकार; आयु कर्म भी तेल की तरह है। जब तक कोई प्रतिकूल निमित्त नहीं आते, तब तक वह अपने क्रम से उदय में आता है तथा प्रतिकूल निमित्तों के जुटने पर वह अपने क्रम का उल्लंघन भी कर देता है। यह भी सम्भव है कि वह एक अन्तर्मुहूर्त में ही अपनी करोड़ों वर्ष की आयु को भोग कर समाप्त कर डाले।[1] देव, नारकी, भोग-भूमि के जीव, चरम देहधारी, तीर्थंकर, अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनकी आयु का घात समय से पूर्व नहीं होता। इसीलिए इनका अकाल मरण भी नहीं होता। शेष जीवों में दोनों प्रकार की सम्भावना है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन-दर्शन के नियमानुसार आयु कर्म घट तो सकता है, किन्तु पूर्व में बांधी हुई आयु में एक क्षण की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

6.13.1 आयु कर्म के बन्ध सम्बन्धी विशेष नियम

आठ मूल कर्मों में आयु कर्म का बन्ध सदा नहीं होता। इसके बन्ध का विशेष नियम है। अपने जीवन की दो-तिहाई आयु व्यतीत होने पर ही आयु कर्म बन्धता है, वह भी अन्तर्मुहूर्त तक। इसे अपकर्षकाल कहते हैं। एक मनुष्य/तिर्यञ्च के जीवन में ऐसे आठ अवसर आते हैं जिनमें वह आयु बांधने के योग्य होता है। इसके बीच वह आयु का बन्ध किये बिना, मरण नहीं करता तथा नूतन भव को प्राप्त नहीं होता। बन्ध की यह प्रक्रिया समाप्त हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है।

मान लीजिए किसी व्यक्ति की 81 वर्ष की आयु हो, तो वह 54 वर्ष की अवस्था तक आयु कर्म के बन्ध के योग्य नहीं होता। वह पहली बार आयु कर्म का बन्ध 54 वर्ष की अवस्था में कर सकता है। यदि उस काल में आयु कर्म का बन्ध न हो, तो शेष 27 वर्ष में से दो-तिहाई अर्थात् 18 वर्ष बीतने पर यानि 72 वर्ष की अवस्था में उसे आयु का बन्ध हो सकता है। उस काल में भी न हो तो शेष नौ वर्ष में से छह वर्ष बीतने पर अर्थात् 78 वर्ष की अवस्था होने पर आयु बंधेगी। उसमें भी न हो तो शेष तीन में से दो वर्ष बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष की अवस्था में और यदि उसमें भी न हो तो शेष एक वर्ष में से 8 माह बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष 8 माह की अवस्था में, यदि उसमें भी न बंधे तो शेष चार माह में से 80 दिन बीत जाने के बाद अर्थात् 80 वर्ष, 10 माह और 20 दिन की अवस्था में। यदि उसमें भी न बंधे, तो शेष 40 दिन के त्रिभाग, 26 दिन 16 घंटे बीत जाने के उपरान्त अर्थात् 18 वर्ष, 11 माह, 16 दिन तथा 16 घंटे की अवस्था में। यदि इसमें भी न बंधे, तो शेष अवधि में से 8 दिन, 21 घंटे तथा 20 मिनिट बीत जाने पर अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 25 दिन, 13 घण्टे, 20 मिनिट की आयु में आयु कर्म का बन्ध हो जाता है, यदि उसमें भी न हो पाये तो मरण के अन्तर्मुहूर्त-पूर्व तो आयु बन्ध कर ही लेता है।

आयु बन्ध का यह नियम मनुष्य और तिर्यञ्चों के लिए है। देव, नारकी तथा भोग-भूमि के जीव अपने जीवन के 6 माह शेष रहने पर आयु बन्ध के योग्य होते हैं। इस छह माह में उनके भी आठ पूर्ववत् अपकर्ष होते हैं।

6.13.2 आयु-बन्ध के कारण

हिंसा आदि कार्यों में निरन्तर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का हरण, इन्द्रिय विषयों में अत्यन्त आसक्ति, तीव्र परिग्रह-लुब्धता तथा मरण के समय क्रूर परिणामों से **''नरकआयु''** का बन्ध होता है।

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उसका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अति- सन्धानप्रियता अर्थात् विश्वासघात, वञ्चना और छल-कपट करना आदि **''तिर्यञ्च आयु''** के बन्ध के कारण हैं।

स्वभाव से विनम्र होना, भ्रद प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्प कषाय का होना तथा मरण के समय संक्लेश रूप परिणति का नहीं होना आदि ''मनुष्य आयु'' के बन्ध के कारण हैं।

संयम पालने से, तप करने से, व्रतों के आचरण से, कषाय की मन्दता से, धर्म-कथा के श्रवण से, दान देने से, धर्मायतनों की सेवा तथा रक्षा करने से तथा सम्यक्दृष्टि होने से **''देव आयु''** का बन्ध होता है।

6.14 नाम-कर्म

''नाना मिनोतीति नाम'' जो जीव के चित्र- विचित्र रूप बनाता है वह ''नाम-कर्म'' है। इसकी तुलना चित्रकार से की है।[4] जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों के योग से सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक चित्र निर्मित करता है, उसी तरह नाम कर्म रूपी चितेरा, जीव के भले-बुरे, सुन्दर-असुन्दर, लम्बे-नाटे, मोटे-पतले, छोटे-बड़े, सुडौल-बेडौल आदि शरीरों का निर्माण करता है। जीव की विविध आकृतियों एवं शरीरों का निर्माण इसी नाम-कर्म की कृति है। विश्व की विचित्रता में नाम-कर्म

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रूप चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है। इस नाम-कर्म के मुख्य बयालीस भेद हैं तथा इसके उपभेद कुल तेरानवे हो जाते हैं—

1. गति—जिस नाम-कर्म के उदय से जीव एक जन्म-स्थिति से अगली जन्म-स्थिति में जाता है, वह गति नाम-कर्म है। गतियां चार हैं—मनुष्य, देव, नरक एवं तिर्यंच।

2. जाति—जिस नाम-कर्म के उदय से सदृशता के कारण जीवों का बोध हो, उसे जाति नाम-कर्म कहते हैं। जातियां पांच हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय तथा पांच इन्द्रिय।

3. शरीर—शरीर की रचना करने वाले कर्म को शरीर नाम-कर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं— औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर।

4. अंगोपांग—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है, अर्थात् शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की रचना करने वाला कर्म 'अंगोपांग' नाम-कर्म है। इसके तीन भेद हैं— औदारिक, वैक्रियिक व आहारक। तीनों अपने-अपने शरीर के अनुरूप अंगोपांग की रचना करते हैं। तैजस और कार्मण शरीर सूक्ष्म होने के कारण अंगोपांग रहित होते हैं।

5. निर्माण—शरीर के अंगोपांग की समुचित रूप से रचना करने वाला कर्म 'निर्माण' नाम-कर्म है।

6. शरीर-बन्धन—शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गलों को परस्पर बांधने वाला कर्म शरीर-बन्धन नाम-कर्म हैं। पूर्वोक्त शरीर के अनुसार यह पांच प्रकार का है।

7. शरीर संघात—निर्मित शरीर के परमाणुओं को परस्पर छिद्ररहित बनाकर एकीकृत करने वाले कर्म को, शरीर-संघात-नाम-कर्म कहते हैं। इसके अभाव में शरीर तिल के लड्डू की तरह अपुष्ट रहता है।[6] यह भी शरीरों की तरह पांच प्रकार का होता है।

8. संस्थान—शरीर को विविध आकृतियां प्रदान करने वाला कर्म 'संस्थान' नाम-कर्म है।[7] इसके छह भेद हैं—

1. समचतुरस्र संस्थान—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जीव के सुन्दर, सुडौल और समानुपातिक शरीर बनाने वाले कर्म को 'समचतुरस्र-संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

2. न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान—'न्यग्रोध'' अर्थात् 'वट के वृक्ष' की तरह, नाभि से ऊपर की ओर मोटे और नीचे की ओर पतले शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

3. स्वाति—सर्प की वामी की तरह नाभि के ऊपर पतले तथा नीचे की ओर मोटे आकार का शरीर बनाने वाला कर्म 'स्वाति संस्थान' नाम-कर्म है।

4. कुब्जक—कुबड़ा शरीर बनाने वाले कर्म को 'कुब्जक संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

5. वामन संस्थान—बौना शरीर बनाने वाला कर्म 'वामन-संस्थान' नाम-कर्म है।

6. हुण्डक—अनिर्दिष्ट आकार को हुण्डक कहते हैं। ऐसे अनिर्दिष्ट आकार का विचित्र शरीर बनाने वाले कर्म को 'हुण्डक संस्थान' नाम-कर्म कहते हैं।

9. संहनन—अस्थि बन्धनों में विशिष्टता को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'संहनन नाम कर्म'' कहते हैं। वेष्टन, त्वचा, अस्थि और कीलों के बन्धन की अपेक्षा इसके छह भेद हैं—1. वज्र-वृषभ नाराच संहनन, 2. वज्र-नाराच संहनन, 3. नाराच संहनन, 4. अर्द्ध-नाराच संहनन, 5. कीलक संहनन, 6. सेवार्त संहनन।[1]

10. वर्ण—शरीर को वर्ण (रंग) प्रदान करने वाले कर्म को 'वर्ण नामकर्म' कहते हैं। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत रूप पांच प्रकार के होते हैं।

11. गंध—शरीर को सुगंध एवं दुर्गंध प्रदान करने वाले कर्म को 'गन्धनाम-कर्म' कहते हैं।

12. रस—तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कसैला रस अर्थात् स्वाद उत्पन्न करने वाले कर्म को 'रस नाम-कर्म' कहते हैं।

13. स्पर्श—हल्का, भारी, कठोर, मृदु, शीत, उष्ण तथा स्निग्ध, रुक्ष आदि स्पर्श के भेदों से शरीर को प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्पर्श नाम-कर्म' कहलाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14. आनुपूर्व्य—देह-त्याग के बाद नूतन शरीर धारण करने के लिए होने वाली गति को 'विग्रहगति' कहते हैं। विग्रहगति में पूर्व शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'आनूपूर्व्य नाम-कर्म' कहते हैं। गतियों के आधार पर यह चार प्रकार का है।

15. अगुरुलघु—जो कर्म शरीर को न तो लौह पिण्ड की तरह भारी, न ही रुई की पिण्ड की तरह हल्का होने दे, वह 'अगुरुलघु नाम-कर्म' है। इस कर्म से शरीर का आयतन बना रहता है। इसके अभाव में जीव स्वेच्छा से उठ-बैठ भी नहीं कर सकता।

16. उपघात—इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से कष्ट पाता है। जैसे प्रतिजिह्वा और चोरदन्त आदि।

17. परघात—दूसरों को घात करने के योग्य तीक्ष्ण नख, सींग, दाढ़ आदि अवयवों को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'परघात नाम-कर्म' कहते हैं।

18. उच्छ्वास—इस कर्म की सहायता से श्वासोच्छ्वास संचालित होता है।

19. आतप—जिस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश निकलता है। यह कर्म सूर्य और सूर्यकान्त मणियों में रहने वाले एकेन्द्रियों को होता है। उनका शरीर शीतल होता है तथा ताप उष्ण।

20. उद्योत—चन्द्रकान्त मणि और जुगनू आदि की तरह शरीर में शीतल प्रकाश उत्पन्न करने वाला कर्म 'उद्योत नाम-कर्म' है।

21. विहायोगति—इस कर्म के उदय से जीव की अच्छी या बुरी चाल होती है। यह प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है। हाथी, हंस आदि की प्रशस्त चाल को प्रशस्त विहायोगति तथा ऊंट, गधा आदि की अप्रशस्त चाल को 'अप्रशस्त विहायोगति' कहते हैं। यहां गति का अर्थ 'गमन' या 'चाल' है।

22. प्रत्येक शरीर—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होता है, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है।

23. साधारण—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक ही शरीर प्राप्त हो वह 'साधारण नाम-कर्म' है।

24. त्रस—जिस कर्म के उदय से द्वि-इन्द्रियादि जीवों में जन्म हो उसे 'त्रस नाम-कर्म' कहते हैं।

25. स्थावर—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रियों में उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्थावर नाम-कर्म' है।

26. बादर—स्थूल शरीर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'बादर नाम-कर्म' है।

27. सूक्ष्म—सूक्ष्म अर्थात् दूसरों को बाधित एवं दूसरों से बाधित न होने वाले शरीर को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सूक्ष्म नाम-कर्म' है। इस कर्म का उदय मात्र एकेन्द्रिय जीवों में होता है।

28. पर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य आहारादिक पर्याप्तियों को पूर्ण कर सके वह 'पर्याप्ति नाम-कर्म' हैं। पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति है जिससे शरीर में पुद्गलों का ग्रहण, अवशोषण और उत्सर्जन होता है।

29. अपर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे 'अपर्याप्ति नाम-कर्म' कहते हैं।

30. स्थिर—शरीर के अस्थि, मांस, मज्जा आदि धातु, उपधातुओं को यथास्थान स्थिर रखने वाले कर्म को 'स्थिर नाम-कर्म' कहते हैं।

31. अस्थिर—शरीर के धातु तथा उपधातुओं को अस्थिर रखने वाला कर्म 'अस्थिर नाम-कर्म है।

32. शुभ—शरीर के अवयवों को सुन्दर बनाने वाला कर्म 'शुभ नाम-कर्म' है।

33. अशुभ—'अशुभ नाम-कर्म' असुन्दर शरीर प्राप्त कराता है।

34. सुभग—सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सुभग नाम-कर्म' है। अथवा जिस कर्म के उदय से सबको प्रीति कराने वाला शरीर प्राप्त होता है। उसे 'सुभग नाम-कर्म' कहते हैं।

35. दुर्भग—गुण-युक्त होने पर भी दुर्भग नाम-कर्म अन्य प्राणियों में अप्रीति उत्पन्न कराने वाला शरीर प्रदान करता है।

36. सुस्वर—कर्णप्रिय स्वर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'सुस्वर नाम-कर्म' है।

37. दुःस्वर—'दुःस्वर नाम-कर्म' के उदय से कर्ण-कटु, कर्कश स्वर प्राप्त होता है।

38. आदेय—इस कर्म के उदय से जीव बहुमान्य एवं आदरणीय होता है।[1] प्रभायुक्त शरीर भी 'आदेय' नाम-कर्म की देन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

39. अनादेय—'अनादेय' कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त नहीं होता। यह निष्प्रभ शरीर का कारण भी है।

40. यश:कीर्ति—जिस कर्म के उदय से लोक में यश, कीर्ति, ख्याति और प्रतिष्ठा मिलती है वह 'यश: कीर्ति नाम-कर्म' है।

41. अयश:कीर्ति—इस कर्म के उदय से अपयश मिलता है।

42. तीर्थंकर—'तीर्थंकर' नाम-कर्म त्रिलोक पूज्य एवं धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक बनाता है।

इस प्रकार नाम कर्म के मूल बयालीस भेद तथा उत्तर भेदों के मिलने पर कुल 93 (तेरानवे) भेद हो जाते हैं। इनमें कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं।

6.14.1 नाम-कर्म के बन्ध का कारण

मन-वचन-काय की कुटिलता अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ, इसी प्रकार अन्यों से कुटिल प्रवृत्ति कराना, मिथ्या दर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, परवञ्चन की प्रवृत्ति, झूठे माप-तौल आदि रखने से अशुभ नाम-कर्म का बन्ध होता है। इसके विपरीत मन-वचन-काय की सरलता, चुगलखोरी का त्याग, सम्यक् दर्शन, चित्त की स्थिरता आदि शुभ नाम-कर्म के बन्ध के कारण होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति नाम-कर्म की अत्यन्त शुभ प्रकृति है, इसका बन्ध भी अत्यन्त शुभ परिणामों से होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के सोलह कारण बताये गये हैं। सम्यक् दर्शन की विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शील और व्रतों का निर्दोष परिपालन, निरन्तर ज्ञान- साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति, संसार से सतत भीति, शक्ति के अनुसार तप और त्याग, भले प्रकार की समाधि, साधुजनों की सेवा/सत्कार, पूज्य आचार्य, बहुश्रुत व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्म कार्यों का निरन्तर पालन, धार्मिक प्रोत्साहन व धर्मी जनों के प्रति वात्सल्य यह सब तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण है।[3]

6.15 गोत्र-कर्म

लोक-व्यवहार सम्बन्धी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक पूज्य आचरण की परम्परा है, उसे 'उच्च गोत्र' कहते हैं तथा जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे 'नीच गोत्र' नाम दिया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म 'गोत्र-कर्म' कहलाता है। इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गयी है। जैसे—कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही ऐसे होते हैं, जिन्हें लोग कलश बनाकर चन्दन, अक्षत आदि मंगल द्रव्यों से अलंकृत करते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिनमें मदिरा आदि निन्द्य पदार्थ रखे जाते हैं, इसलिए निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से जीव कुलीन/पूज्य और अपूज्य/अकुलीन घरों में उत्पन्न होता है। गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है—1. उच्च गोत्र तथा 2. नीच गोत्र।

6.15.1 गोत्र-कर्म के बन्ध का कारण

परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, दूसरे के सद्भूत-विद्यमान गुणों का आच्छादन तथा अपने असद्भूत-अविद्यमान गुणों को प्रकट करना—यह सब नीच गोत्र के बन्ध के कारण है। इसके विपरीत अपनी निन्दा, दूसरों की प्रशंसा, अपने गुणों का आच्छादन, पर के गुणों का उद्भवन, गुणाधिकों के प्रति विनम्रता तथा ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ रहते हुए भी, उसका अभिमान न करना, ये सब उच्च गोत्र के बन्ध का कारण है।

6.16 अन्तराय-कर्म

जो कर्म विघ्न डालता है, उसे अन्तराय-कर्म कहते हैं। इस कर्म के कारण आत्मशक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आंतरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता। इस कर्म को भण्डारी से उपमित किया है। जिस प्रकार किसी दीन-दु:खी को देखकर दया से द्रवीभूत राजा दान देने का आदेश करता है, फिर भी भण्डारी बीच में अवरोधक बन जाता है। वैसे ही यह अन्तराय-कर्म जीव को दान-लाभादिक कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। इसके पांच भेद हैं—

1. जिस कर्म के उदय से दान देने की अनुकूल सामग्री और पात्र की उपस्थिति में भी दान देने की भावना न हो, वह 'दानान्तराय कर्म' है।
2. जिस कर्म के उदय से बुद्धिपूर्वक श्रम करने पर भी लाभ होने में बाधा हो वह 'लाभान्तराय कर्म' है।
3. जिसके उदय से प्राप्त भोग्य वस्तु का भोग न किया जा सके, वह 'भोगान्तराय कर्म' है।
4. जिसके उदय से प्राप्त उपभोग्य वस्तु का उपभोग न किया जा सके, वह 'उपभोगान्तराय कर्म' है।
5. जिसके उदय से सामर्थ्य होते हुए भी कार्यों के प्रति उत्साह न हो, उसे 'वीर्यान्तराय कर्म' कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.16.1 अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण—दान आदि में बाधा उपस्थित करने से, पापों में रत रहने से, मोक्ष-मार्ग में दोष बताकर विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

6.17 सारांश– अस्तु जैन दर्शन में कर्मों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है।

6.18 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. कर्म के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डालें।
2. कर्म के भेद-प्रभेदों को स्पष्ट करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आयुकर्म बन्ध के विशेष नियमों पर प्रकाश डालें।
2. नाम-कर्म को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जागतिक विविधता का हेतु क्या है?
2. जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है?
3. द्रव्यकर्म और भावकर्म में क्या अंतर है?
4. जैनदर्शन में आत्मा मूर्त्त है या अमूर्त्त?
5. जीव और कर्म में अनादि, सादि संबंध कैसे घटित होता है?
6. कर्म की मूल प्रकृतियां कितनी और कौन-कौन-सी हैं?
7. ज्ञानावरण कर्मबन्ध के किन्ही दो कारणों को लिखें।
8. मोहनीय कर्म के कौन-से दो प्रकार हैं?
9. अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु से आप क्या समझते हैं?
10. गोत्र कर्मबन्ध के कारणों का निर्देश करें।

संदर्भ पुस्तकें :

1. जैन धर्म और दर्शन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 7 कर्म-बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 आस्रव बन्ध सम्बन्ध
7.3 बंध के कारण
7.4 बंध के भेद
7.4.1 प्रकृति बंध
7.4.2 प्रदेश बंध
7.4.3 स्थिति बंध
7.4.4 अनुभाग बंध
7.5 कर्मों की स्थिति
7.6 अनुभाग
7.7 कर्मों के प्रदेश
7.8 बंधन मुक्ति की प्रक्रिया
7.8.1 संवर का अर्थ
7.8.2 जैन परम्परा में संवर का वर्गीकरण
7.8.3 निर्जरा का अर्थ
7.8.3.1 द्रव्य और भाव निर्जरा
7.8.3.2 सकाम और अकाम निर्जरा
7.8.3.3 जैन साधना में औपक्रमिक निर्जरा का स्थान
7.9 कर्मों की विविध अवस्थाएं
7.10 सारांश
7.11 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

कर्म रूप परिणत पुद्गलों का जीवात्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध (जहां आत्मा वहीं स्थित कर्म-परमाणुओं के पारस्परिक सम्बन्धों का) हो जाना बंध है। दो पदार्थों के मेल को बंध कहते हैं। यह सम्बन्ध धन और धनी की तरह का नहीं है, न ही गाय के गले में बंधने वाली रस्सी की तरह का, वरन् बंध का अर्थ जीव और कर्म-पुद्गलों का मिलकर एकमेक हो जाने से है। आत्मा के प्रदेशों में कर्म प्रदेशों का दूध में जल की तरह एकमेक हो जाना ही बंध कहलाता है। जिस प्रकार सोने और तांबे के संयोग से एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है, अथवा हाइडोजन और ऑक्सीजन रूप दो गैसों के सम्मिश्रण से जल रूप एक विजातीय पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है उसी प्रकार बंध पर्याय में जीव और पुद्गलों की एक विजातीय अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो न तो शुद्ध जीव में पायी जाती है, न ही शुद्ध पुद्गलों में।

इसका अर्थ यह नहीं है कि बंधावस्था में जीव और पुद्गल-कर्म सर्वथा अपने स्वभाव से च्युत हो जाते हैं तथा फिर उन्हें पृथक् किया ही नहीं जा सकता। उन्हें पृथक् भी किया जा सकता है—जैसे मिश्रित सोने और तांबे को गलाकर और प्रयोग विशेष से जल को पुनः हाइडोजन और ऑक्सीजन रूप में परिणत किया जा सकता है। उसी प्रकार कर्मबद्ध जीव भी अपने पुरुषार्थजन्य प्रयोग के बल से अपने आपको कर्मों से पृथक् कर सकता है।

7.1 उद्देश्य

इस अध्याय में हम जैनदर्शन सम्मत कर्म और आत्मा के सम्बन्ध की प्रक्रिया का संक्षेप में अध्ययन करेंगे। आस्रव के पांच कारण भी बंध के कारण हैं। उनकी चर्चा प्रथम वर्ष के द्वितीय पत्र के अंतर्गत देखें। मुख्य कारणों की चर्चा इस अध्याय में की गई है। इसके अलावा कर्म बंधन से मुक्ति कैसे पाई जा सकती है? इस विषय में भी इस अध्याय में यत्किंचित प्रकाश डाला गया है। कर्म की दस अवस्थाओं की चर्चा का समावेश भी इसी अध्याय में किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.2 आस्रव-बंध सम्बन्ध

जीव की मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणत होना 'आस्रव' है तथा आस्रवित कर्म-पुद्गलों का जीव के रागद्वेष आदि विकारों के निमित्त से आत्मा के साथ एकाकार/एक रस हो जाना ही 'बंध' है। बंध, आस्रवपूर्वक ही होता है। इसीलिए आस्रव को बंध का हेतु कहते हैं। आस्रव और बंध दोनों युगपत् होते हैं। उनमें कोई समय भेद नहीं है। आस्रव और बंध का यही सम्बन्ध है। सामान्यतया आस्रव के कारणों को ही बंध का कारण (कारण का कारण होने से) कह देते हैं, किन्तु बंध के लिए अलग शक्तियां कार्य करती हैं।

7.3 बंध के कारण

मूल रूप से दो ही शक्तियां कर्म बंध का कारण हैं—योग और कषाय। योग रूप शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएं जीव की ओर आकृष्ट होती हैं तथा राग-द्वेष आदि रूप मनोविकार—कषायों का निमित्त पाकर जीवात्मा के साथ चिपक जाते हैं, अर्थात् योग शक्ति के कारण कर्म-वर्गणाएं कर्म रूप से परिणत होती हैं तथा कषायों के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्मबंध के लिए मूल रूप से दो शक्तियां योग और कषाय काम करती हैं।

इन दोनों शक्तियों में से कषायों को गोंद की, योग को वायु की, कर्म को धूल की तथा जीव को दीवार की उपमा दी जाती है। दीवार गीली हो अथवा उस पर गोंद लगी हो तो वायु से प्रेरित धूल उस पर चिपक जाती है, किन्तु साफ-स्वच्छ दीवार पर वह चिपके बिना टकराकर गिर जाती है। उसी प्रकार योग रूपी वायु से प्रेरित कर्म भी कषाय रूपी गोंद युक्त आत्म प्रदेशों से चिपक जाते हैं। धूल की न्यूनाधिकता वायु के वेग पर निर्भर करती है तथा उनका टिके रहना गोंद की प्रगाढ़ता और पतलेपन पर अवलम्बित है। गोंद के प्रगाढ़ होने पर धूल की चिपकाव भी प्रगाढ़ होती है तथा उसके पतले होने पर धूल की चिपकाव भी अल्पकालिक होती है। उसी प्रकार योग की अधिकता से कर्म प्रदेश अधिक आते हैं तथा उनकी हीनता से अल्प। उत्कृष्ट योग होने पर कर्म प्रदेश उत्कृष्ट बंधते हैं तथा जघन्य होने पर जघन्य। उसी प्रकार यदि कषाय प्रगाढ़ होती हैं तो कर्म अधिक समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अधिक मिलता है। कषायों के मंद होने पर कर्म भी कम समय तक टिकते हैं तथा उनका फल भी अल्प मिलता है। इस प्रकार योग और कषाय रूपी शक्तियां ही बंध का प्रमुख कारण हैं। इसलिये जैन धर्म में कषाय के त्याग पर जोर देते हुए कहा गया है कि 'जिन्हें बंध नहीं करना है वे कषाय न करें।'

7.4 बंध के भेद

द्रव्य बंध और भाव बंध की अपेक्षा बंध के दो भेद किये गये हैं। जिन राग, द्वेष मोह आदि मनोविकारों से कर्मों का बंध होता है उन्हें 'भाव-बंध' कहते हैं तथा कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना 'द्रव्य' बंध है। भाव बंध ही द्रव्य बंध का कारण है, अत: उसे प्रधान समझकर उससे बचना आवश्यक है।

द्रव्य बंध के भेद : द्रव्य बंध के चार भेद किये गये हैं—1. प्रकृति बंध, 2. प्रदेश बंध, 3. स्थिति बंध, 4. अनुभाग बंध।

7.4.1. प्रकृति बंध—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव/कर्मबंध के समय बंधने वाले कर्म परमाणुओं में बंधन का स्वभाव निर्धारित होना प्रकृति बंध है। प्रकृति बंध यह निश्चित करता है कि कर्म-वर्गणा के ये पुद्गल ज्ञान-दर्शन आदि किस शक्ति को आवृत/आच्छादित (प्रभावित) करेंगे।

7.4.2. प्रदेश बंध—बंधे हुए कर्म-परमाणुओं की मात्रा को प्रदेश बंध कहते हैं।

7.4.3. स्थिति बंध—बंधे हुए कर्म जब तक अपना फल देने की स्थिति में रहते हैं, तब तक की काल मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं। सभी कर्मों की अपनी-अपनी स्थिति होती है। कुछ कर्म क्षण-भर टिकते हैं तथा कुछ कर्म अति दीर्घ काल तक आत्मा के साथ चिपके रहते हैं। उनके इस टिके रहने की काल-मर्यादा को ही 'स्थिति बंध' कहते हैं। जिस प्रकार गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध में माधुर्य एक निश्चित कर्म का स्वभाव भी एक निश्चित काल तक ही रहता है। यह मर्यादा ही स्थिति बंध है, जिसका निर्धारण जीव के भावों के अनुसार कर्म बंधते समय ही हो जाता है और कर्म तभी तक फल देते हैं, जब तक कि उनकी स्थिति होती है। इसे काल-मर्यादा भी कह सकते हैं।

7.4.4. अनुभाग बंध—कर्मों की फलदान-शक्ति को 'अनुभाग बंध' कहते हैं। कर्मफल की तीव्रता मंदता इसीपर अवलम्बित है।

प्रकृति बंध सामान्य है। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म आ तो जाते हैं, किन्तु उनमें तरतमता अनुभाग बंध के कारण ही आती है। जैसे गन्ने का स्वभाव मीठा है, पर वह कितना मीठा है यह सब उसमें रहने वाली मिठास पर ही निर्भर है। ज्ञानावरणी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्म का स्वभाव ज्ञान को ढांकना है, पर वह कितना ढांके, यह उसके अनुभाग बंध की तरतमता पर निर्भर है। प्रकृति बंध और अनुभाग बंध में इतना ही अंतर है।

अनुभाग बंध में तरतमता हमारे शुभाशुभ भावों के अनुसार होती रहती है। मंद अनुभाग में हमें अल्प सुख-दु:ख होता है तथा अनुभाग में तीव्रता होने पर हमारे सुख-दु:ख में तीव्रता होती है। जैसे उबलते हुए जल के एक कटोरे से भी हमारा शरीर जल जाता है, किन्तु सामान्य गर्म जल से स्नान करने के बाद भी वैसा कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार तीव्र अनुभाग युक्त अल्पकर्म भी हमारे गुणों को अधिक नुकसान पहुंचाते हैं तथा मंद अनुभाग युक्त अधिक कर्म-पुञ्ज भी हमारे गुणों को नुकसान पहुंचाने में उतने समर्थ नहीं हो पाते। इसी कारण चारों बंधों में अनुभाग बंध की ही प्रधानता है।

इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति-बंध और प्रदेश बंध योग के कारण होते हैं, जबकि स्थिति बंध और अनुभाग बंध का कारण कषाय है।

इस प्रकार कर्मों से बंधा हुआ जीव विकारी होकर नाना योनियों में भटकता है। कर्म ही जीव को परतंत्र करते हैं। संसार में जो विविधता दिखाई देती है, वह सब कर्म बंध जन्य है। आस्रव और बंध के स्वरूप को विशेष रूप से समझने के लिए कर्म-सिद्धान्त पर विचार करना आवश्यक है। उसके बिना इस विषय को समझ पाना असंभव है।

7.5 कर्मों की स्थिति

बंधे हुए कर्म जब तब अपना फल देने की स्थिति में रहते हैं, तब तक की काल-मर्यादा ही कर्मों की स्थिति है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्म जीवात्मा के साथ एक निश्चित अवधि तक बंधा रहता है। तदुपरान्त वह पेड़ में पके फल की तरह अपना फल देकर जीव से अलग हो जाता है। जब तक कर्म अपना फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, तब तक की काल मर्यादा ही उनकी 'स्थिति' कहलाती है। जैन कर्म ग्रंथों में विभिन्न कर्मों की पृथक्-पृथक् स्थितियां (उदय में आने योग्य काल) बताई गयी हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

क्रं.	कर्म का नाम	अधिकतम समय न्यूनतम समय
1. ज्ञानावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
2. दर्शनावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
3. वेदनीय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
4. मोहनीय	सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
5. आयु	तैतीस सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
6. नाम	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त
7. गोत्र	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त
8. अन्तराय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त

सागरोपम आदि उपमा काल हैं। इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जैन कर्म-ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए, जिससे काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

7.6 अनुभाग

कर्मों की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। प्रत्येक कर्म का फलदान एक-सा नहीं रहता। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार बंधने वाले प्रत्येक कर्म का अनुभाग, अपने-अपने नाम के अनुरूप तरतमता लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यन्त तीव्र होता है। कुछ का मंद, तो कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मंदता पर निर्भर रहता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है, शुभ कर्मों का मंद तथा कषायों की मंदता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मंद। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी जितना अधिक कषायों की तीव्रता से युक्त होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही सबल होंगे तथा शुभ-कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषाय-युक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल होंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.7 कर्मों के प्रदेश

आत्मा से बद्ध कर्म परमाणुओं की मात्रा ही कर्मों के प्रदेश हैं। जीव के भावों का आश्रय पाकर बंधने वाले सभी कर्मों के परमाणुओं की मात्रा समान नहीं होती। इसका भी एक निश्चित नियम है, एक साथ आत्मा के साथ बंधन को प्राप्त होने वाले समस्त कर्म परमाणु एक निश्चित अनुपात से आठ कर्मों में विभक्त हो जाते हैं। उक्त क्रमानुसार आयु कर्म में सबसे थोड़े परमाणु होते हैं। नाम कर्म के परमाणु उससे कुछ अधिक होते हैं। गोत्र कर्म के परमाणुओं की मात्रा नाम कर्म के बराबर ही है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन कर्मों के परमाणु विशेष अधिक होते हैं। तीनों की मात्रा परस्पर समान होती है। मोहनीय कर्म के परमाणु इससे भी अधिक होते हैं तथा सबसे अधिक परमाणु वेदनीय कर्म के होते हैं। यह मूल-कर्मों का विभाजन है। प्रत्येक कर्म के प्रदेशों में न्यूनता व अधिकता का यही आधार है। कर्म परमाणुओं का यह विभाजन बंध काल में ही हो जाता है।

7.8 बंधन मुक्ति की प्रक्रिया

यद्यपि यह सत्य है आत्मा के पूर्व कर्म संस्कारों के कारण बंधन की प्रक्रिया अविराम गति से चलती रहती है। पूर्व कर्म संस्कार अपने विपाक के अवसर पर आत्मा को प्रभावित करते हैं और उसके परिणामस्वरूप मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापार होते हैं, उस क्रिया-व्यापार के कारण नवीन कर्मास्रव एवं बंध होता है। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बंधन से मुक्त किस प्रकार हुआ जाये। जैनदर्शन बंधन से बचने के लिए जो उपाय बताता है, उन्हें संवर और निर्जरा कहते हैं।

7.81 संवर का अर्थ

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार आस्रव-निरोध संवर है। दूसरे शब्दों में कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में आने की क्रिया का रूक जाना संवर है। वही संवर मोक्ष का कारण तथा नैतिक साधना का प्रथम सोपान है। संवर शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ है रोकना या निरोध करना। इस प्रकार संवर शब्द का अर्थ किया गया है—आत्मा को प्रभावित करने वाले कर्मवर्गणा के पुद्गलों के आस्रव को रोक देना। सामान्य रूप से शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का यथाशक्य निरोध करना (रोकना) संवर कहा जाता है, क्योंकि क्रियाएं ही आस्रव का आधार हैं। जैन परम्परा में संवर को कर्म परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध परम्परा में क्रिया के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है, क्योंकि बौद्ध परम्परा में कर्मवर्गणा (परमाणुओं) का भौतिक स्वरूप मान्य नहीं है, अत: वे संवर को जैन परम्परा के अर्थ में नहीं लेते हैं। उसमें संवर का अर्थ मन, वाणी एवं शरीर के क्रिया-व्यापार या ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है। वैसे जैन परम्परा में भी संवर को कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के निरोध के रूप में माना गया है, क्योंकि संवर के पांच अंगों में अयोग (अक्रिया) भी एक माना गया है। यदि हम इस परम्परागत अर्थ को मान्य करते हुए भी इससे थोड़ा ऊपर उठकर देखें तो संवर का वास्तविक अर्थ संयम ही माना जा सकता है। जैन परम्परा में भी संवर के रूप में जिस जीवन प्रणाली का विवेचन किया गया है वह संयमात्मक जीवन की प्रतीक है। स्थानांगसूत्र में संवर के पांच भेदों का विवेचन पांचों इन्द्रियों के संयम के रूप में किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में तो संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव-निरोध का कारण माना गया है। वस्तुत: संवर का अर्थ है अनैतिक या पापकारी प्रवृत्तियों से अपने को बचाना। संवर शब्द इस अर्थ में संयम का पर्याय ही सिद्ध होता है। बौद्ध परम्परा में संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में ही हुआ है। धम्मपद आदि में प्रयुक्त संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है। लेकिन संवर का यह निषेधक अर्थ ही सब कुछ नहीं है, वरन् उसका एक विधायक पक्ष भी है। शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ में स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि अशुभ की निवृत्ति के लिए शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्ति-शून्यता के अभ्यासी के लिए प्रथम शुभ वृत्तियों को अंगीकार करना होता है, क्योंकि चित्त के शुभवृत्ति से परिपूर्ण होने पर अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। अशुभ को हटाने के लिए शुभ आवश्यक है। दूसरे शुभ को हटाना तो इतना सुसाध्य होता है कि उसका सहज निराकरण हो जाता है। अत: संवर का अर्थ शुभ वृत्तियों का अभ्यास भी है। यद्यपि वहां शुभ का वह अर्थ नहीं है, जिसे हम पुण्यास्रव या पुण्यबंध के रूप में जानते हैं।

7.8.2 जैन परम्परा में संवर का वर्गीकरण

(अ) जैनदर्शन में संवर के दो भेद हैं—1. द्रव्य संवर 2. भाव संवर। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि कर्मास्रव को रोकने में सक्षम आत्मा की चैतसिक स्थिति भावसंवर है और द्रव्यास्रव को रोकने वाला उस चैतसिक स्थिति का जो परिणाम है वह द्रव्यसंवर कहा जाता है।

(ब) सामान्य रूप से संवर के पांच अंग या द्वार बताये गये हैं—1. सम्यक्त्व-यथार्थ दृष्टिकोण 2. विरति-मर्यादित या संयमित जीवन 3. अप्रमत्तता-आत्म चेतना 4. अकषायवृत्ति-क्रोधादि मनोवेगों का अभाव और 5. अयोग-अक्रिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(स) स्थानांगसूत्र में संवर के आठ भेद निम्नानुसार बताए गये हैं—1. श्रोत इन्द्रिय का संयम 2. चक्षु इन्द्रिय का संयम 3. घ्राण इन्द्रिय का संयम 4. रस इन्द्रिय का संयम 5. स्पर्श इन्द्रिय का संयम 6. मन का संयम 7. वचन का संयम 8. शरीर का संयम।

(द) प्रकारान्तर से जैन आगम ग्रंथों में संवर के सत्तावन भेद भी माने गये हैं। जिसमें पांच समितियां, तीन गुप्तियां, दस प्रकार का यति धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, बाईस परीषह और सामायिक आदि पांच चरित्र सम्मिलित हैं। ये सभी कर्मास्रव का निरोध कर आत्मा को बंधन से बचाते हैं, अत: संवर कहे जाते हैं।

यदि उपरोक्त आधारों पर हम देखें तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य ऐसी मर्यादित जीवन प्रणाली है जिसमें विवेक पूर्ण आचरण (क्रियाओं का संपादन), मन, वाणी और शरीर की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन, सद्गुण का ग्रहण, कष्टों, सहिष्णुता और समत्व की साधना समाविष्ट है। जैनदर्शन में संवर के साधक से अपेक्षा यही की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो, चेतना सदैव जाग्रत हो, ताकि इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को पैदा नहीं कर सकें। जब इन्द्रियां और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते हैं तो उनके इस सम्पर्क से आत्मा में विकार या वासना उत्पन्न होने की संभावना उठ खड़ी होती है। अत: साधना-मार्ग के पथिक को सदैव ही जाग्रत रहते हुए, विषय सेवनरूप छिद्रों से आने वाले कर्मास्रव या विकार से अपनी रक्षा करनी है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अंदर समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अंतर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे। मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय व्यापारों का संयमन ही साधना का लक्ष्य माना गया है। सच्चे साधक की व्याख्या करते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो सूत्र, तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्ग में विवेकपूर्वक लगता है), अध्यात्म रस में ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में लगाता है वही सच्चा साधक है।

7.8.3 निर्जरा का अर्थ

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध होना बंध है और आत्मा से कर्मवर्गणा का अलग होना निर्जरा है। संवर नवीन आने वाले कर्म-पुद्गल का रोकना है, परन्तु मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र मं बताया गया है कि जैसे किसी बड़े तालाब के जल स्रोतों (पानी के आगमन के द्वारों) को बंद कर दिया जाए और उसके अंदर रहे हुए जल को उलीचा जाय तथा ताप से सुखाया जाए तो वह विस्तीर्ण तालाब भी सुख जायेगा। प्रस्तुत रूपक में आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है, कर्म का आस्रव ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को निरुद्ध कर देना संवर है और पानी का उलीचना और सुखाना निर्जरा है। यह रूपक यह बताता है कि संवर से नये कर्म रूपी जल का आगमन (आस्रव) तो रुक जाता है लेकिन पूर्व में बंधे हुए, सत्तारूप कर्मों का जल तो आत्मा रूपी तालाब में शेष रहा हुआ है जिसे सुखाना है। यह कर्म रूपी जल को सुखाना निर्जरा है।

7.8.3.1 द्रव्य और भाव निर्जरा

निर्जरा शब्द का अर्थ है पूर्णत: जर्जरित कर देना, झाड़ देना अर्थात् कर्म-पुद्गलों का आत्मतत्त्व से अलग हो जाना अथवा अलग कर देना निर्जरा है। जैनाचार्यों ने यह निर्जरा दो प्रकार की मानी हैं। आत्मा की वह चैतसिक अवस्था जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते हैं, भाव निर्जरा कही जाती है। भाव निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है, जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म-परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य निर्जरा है। भाव निर्जरा कारण-रूप है और द्रव्य निर्जरा कार्य-रूप है।

7.8.3.2 सकाम और अकाम निर्जरा

पुन: निर्जरा के दो अन्य प्रकार भी माने गये हैं—

1. कर्म जितनी काल मर्यादा (अवधिकाल) के साथ बंधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल निर्जरा कही जाती है। इसे सविपाक, अकाम और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। यह सविपाक निर्जरा इसलिए कही जाती है कि इसमें कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है अर्थात् इसमें फलोदय (विपाकोदय) होता है। इसे अकाम निर्जरा इस आधार पर कहा गया है कि इसमें कर्म के अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्त्व नहीं होता है। उपक्रम शब्द प्रयास के अर्थ में आता है, इसमें वैयक्तिक प्रयास का अभाव होता है, अत: अनौपक्रमिक भी कहा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

2. दूसरे जब तपस्या के माध्यम से कर्मों को उनके फल देने के समय के पूर्व अर्थात् उनकी काल-स्थिति परिपक्व होने के पहिले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोगकर बलात् अलग कर दिया जाता है तो ऐसी निर्जरा को सकाम निर्जरा कहा जाता है, क्योंकि निर्जरित होने में समय का तत्त्व अपनी स्थिति को पूरी नहीं करता है। इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता है, मात्र प्रदेशोदय होता है।

विपाकोदय और प्रदेशोदय में क्या अंतर है, इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है। जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असातावेदनीय (दु:खानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दु:खद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं लेकिन दु:खद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय कर्म के फल का फल भोगा जाता है, लेकिन उसकी फलानुभूति नहीं होती है। अत: यह अविपाक निर्जरा कही जाती है। इसे सकाम निर्जरा भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें कर्म-परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता है। यह औपक्रमिक निर्जरा भी कही जाती है क्योंकि इसमें उपक्रम या प्रयास होता है। प्रयासपूर्वक, तैयारीसहित, कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है। यह कर्मों को निर्जरित (क्षय) करने का कृत्रिम प्रकार है।

अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा अनिच्छापूर्वक, अशांत एवं व्याकुल चित्तवृत्ति से, पूर्व संचित कर्म के प्रतिफलों का सहन करना है जबकि अविपाक निर्जरा इच्छापूर्वक समभावों से जीवन की आई हुई परिस्थितियों का मुकाबला करना है।

7.8.3.3 जैन साधना में औपक्रमिक निर्जरा का स्थान

जैन साधना की दृष्टि से निर्जरा का पहला प्रकार जिसे सविपाक या अनौपक्रमिक निर्जरा कहते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह पहला प्रकार साधना के क्षेत्र में ही नहीं आता है, क्योंकि कर्मों के बंध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत रूप से चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं लेकिन जब तक नवीन कर्मों का सृजन समाप्त नहीं होता ऐसी निर्जरा से सापेक्षिक रूप में कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान को करता रहे, लेनिक नवीन ऋण भी लेता रहे तो वह ऋण मुक्त नहीं होता है।

जैन विचारणा के अनुसार यह सविपाक निर्जरा तो आत्म अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—यह चेतन आत्मा कर्म के विपाक काल में सुखद और दु:खद फलों की अनुभूति करते हुए पुन: दु:ख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बंध कर लेता है, क्योंकि कर्म जब अपना विपाक देते हैं तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करके नवीन बंध कर लेता है। अत: साधना-मार्ग के पथिक के लिए पहले यह निर्देश दिया गया कि वह प्रथम ज्ञान युक्त हो कर्मास्रव का निरोध कर अपने आपको संवृत करे। संवर के अभाव में जैन साधना में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं, वह तो अनादिकाल से होती आ रही है किन्तु भव परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुई। दूसरे यदि आत्मा संवर का समाचरण करता हुआ भी इस यथाकाल होने वाली निर्जरा की प्रतीक्षा में बैठा रहे तो वह शायद ही मुक्त हो सके, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार प्राणी के साथ बंध इतना अधिक है कि वह अनेक जन्मों में ही शायद इस कर्म बंध से स्वाभाविक निर्जरा के माध्यम से मुक्त हो सके। लेकिन इतनी लम्बी समयावधि में संवर से स्खलित होकर नवीन कर्मों के बंध की संभावना भी तो रही हुई है। अत: साधना-मार्ग के पथिक के लिए जो मार्ग बताया गया है, वह है औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा का। महत्त्व इसी तप जन्य निर्जरा का है। ऋषिभाषितसूत्र में ऋषि कहता है कि संसारी आत्मा प्रतिक्षण नए कर्मों का बंध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है, लेकिन तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष (महत्त्वपूर्ण) है। बंध और निर्जरा का प्रवाह अविरागम गति से बह रहा है किन्तु (जो) साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है, वह अंत में पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाता है, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

7.9 कर्मों की विविध अवस्थाएं

जैन कर्म-सिद्धान्त नियतिवादी नहीं है और स्वच्छन्दतावादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म के द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहती। साथ ही साथ जीव का स्वातंत्र्य भी कभी इस प्रकार कुण्ठित व अवरुद्ध नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में किसी भी प्रकार का सुधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाये। कर्मबंध के पश्चात् उसके फल-भोग तक कर्मों की दशाओं में बहुत कुछ परिवर्तन संभव है। यह सब जीव की आंतरिक पवित्रता और पुरुषार्थ पर निर्भर है। जीव के शुभ-अशुभ भावों के आश्रय से उत्पन्न होने वाली कर्मों की इन दशाओं/अवस्थाओं को जैन आगम में 'करण' शब्द से जाना जाता है। करण दस होते हैं, जो कर्मों के विभिन्न अवस्थाओं का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चित्रण करते हैं। करण दस हैं— 1. बंध 2. सत्ता 3. उदय 4. उदीरणा 5. उत्कर्षण 6. अपकर्षण 7. संक्रमण 8. उपशम 9. निधत्ति 10. निकाचित।

1. बंध—यह आत्मा और कर्म की एकीभूत अवस्था है। कर्म के परमाणुओं का आत्मा के साथ एकमेक हो जाना ही बंध है। कर्मों की दस अवस्थओं में यह सबसे पहली अवस्था है। बंध के बाद ही अन्य अवस्थाएं प्रारंभ होती हैं।

2. सत्ता—कर्म बंध के बाद और फल देने से पूर्व बीच की स्थिति को सत्ता कहते हैं। सत्ता-काल में कर्म अस्तित्व में तो रहता है, पर सक्रिय नहीं होता। जैसे शराब पीते ही वह अपना तुरन्त असर नहीं देती, किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसका प्रभाव दिखता है, वैसे ही कर्म भी बंधन के बाद कुछ काल तक सत्ता में बना रहता है।

3. उदय—जब कर्म अपना फल देना प्रारंभ कर देते हैं, उसे उदय कहते हैं। फल देने के पश्चात् कर्म की निर्जरा हो जाती है। उदय दो प्रकार का होता है (क) प्रदेशोदय (ख) फलोदय।

कर्म का चेतन अनुभूति कराये बिना ही निर्जरित होना प्रदेशोदय कहलाता है। जैसे—अचेतन अवस्था में शल्यक्रिया की वेदना की अनुभूति नहीं होती, यद्यपि वेदना की घटना घटित होती है, इसी प्रकार अपनी फलानुभूति करवाकर जो कर्म परमाणु आत्मा से निर्जरित हो जाते हैं उनका उदय 'फलोदय' कहलाता है। ज्ञातव्य है कि फलोदय में प्रदेशोदय अनिवार्य रूप से होता है, पर प्रदेशोदय में फलोदय हो यह अनिवार्य नहीं। प्रदेशोदय और फलोदय को क्रमश: स्वमुखोदय और परमुखोदय भी कहते हैं।

4. उदीरणा—अपने नियत काल से पूर्व ही पूर्वबद्ध कर्मों को प्रयासपूर्वक उदय में लाकर उनके फलों को भोगना उदीरणा कहलाती है। प्राय: जिस कर्म प्रकृति का उदय या भोग चलता है, उसकी या उसकी सजातीय कर्म प्रकृतियों की ही उदीरणा होती है।

5. उत्कर्षण—पूर्वबद्ध कर्मों के स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं। नवीन बंध करते समय आत्मा पूर्वबद्ध कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकता है। काल मर्यादा और तीव्रता को बढ़ाने की यह प्रक्रिया उत्कर्षण कहलाती है।

6. अपकर्षण—पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं। इस प्रक्रिया से कर्मों की काल मर्यादा और तीव्रता को कम किया जा सकता है।

कर्म बंधन के बाद बंधे हुए कर्मों में ये दोनों ही क्रियायें होती हैं। अशुभ कर्मों का बंध करने वाला जीव यदि शुभ भाव करता है तो पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् समय, मर्यादा औरफल की तीव्रता उसके प्रभाव से कम हो जाती है। यदि अशुभ कर्म का बंध करने के बाद और भी अधिक कलुषित परिणाम होते हैं तो उस अशुभ-भाव के प्रभाव से उनके स्थिति और अनुभाग में वृद्धि भी हो जाती है। इस प्रकार उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देते हैं तथा कुछ विलम्ब से। किसी का कर्मफल तीव्र होता है तथा किसी का मंद।

7. संक्रमण—संक्रमण का अर्थ है परिवर्तन (exchange)। एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद होते हैं। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्म का एक भेद अपने सजातीय दूसरे भेद में बदल सकता है, अवान्तर प्रकृतियों का यह अदल-बदल संक्रमण कहलाता है। संक्रमण में आत्मा नवीन बंध करते समय पूर्वबद्ध कर्मों का रूपान्तरण करता है। उदाहरण के रूप में पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म का नवीन साता-वेदनीय कर्म का बंध करते समय साता वेदनीय कर्म के रूप में संक्रमण किया जा सकता है। संक्रमण की यह क्षमता आत्मा की पवित्रता के साथ बढ़ती है। जो आत्मा जितनी पवित्र होती है उसमें संक्रमण क्षमता उतनी ही अधिक होती है। आत्मा में कर्म प्रकृतियों के संक्रमण की सामर्थ्य होना यह बताता है कि जहां अपवित्र आत्माएं परिस्थितियों का दास होती है, वहीं पवित्र आत्मा परिस्थितियों की स्वामी होती है। यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि कर्मों का यह परिवर्तन उनके अवान्तर भेदों में ही होता है। सभी मूल-कर्म परस्पर में संक्रमित/परिवर्तित नहीं होते। जैसे ज्ञानावरण-दर्शनावरण में नहीं बदलता। इतना ही नहीं चारों आयु कर्म तथा दर्शन मोह और चरित्र मोह कर्म भी संक्रमित नहीं होते।

8. उपशम—उदय में आ रहे कर्मों के फल देने की शक्ति को कुछ समय के लिए दबा देना अथवा काल विशेष के लिए उन्हें फल देने से अक्षम बना देना उपशम है। उपशम में कर्म की सत्ता समाप्त नहीं होती, मात्र उसे काल विशेष के लिये फल देने से अक्षम बना दिया जाता है। इस अवस्था में कर्म, राख से दबी अग्नि की तरह निष्क्रिय होकर सत्ता में बने रहते हैं।

9. निधत्ति—कर्म की वह अवस्था निधत्ति है, जिसमें कर्म न तो अवान्तर भेदों में संक्रमित या रूपान्तरित हो सकते हैं और न ही असमय में अपना फल प्रदान कर सकते हैं, लेकिन कर्मों की स्थिति और अनुभाग को कम अधिक किया जा सकता है। अर्थात् इस अवस्था में कर्मों का उत्कर्षण और अपकर्षण तो संभव है पर उदीरणा और संक्रमण नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10. निकाचित—कर्म बंधन की प्रगाढ़ अवस्था निकाचित है। कर्म की इस अवस्था में न तो उसके स्थिति और अनुभाग को हीनाधिक किया जा सकता है, न समय से पूर्व उसका उपभोग किया जा सकता है तथा न ही कर्म अपने अवान्तर भेदों में रूपान्तरित हो सकता है। इस दशा में कर्म का जिस रूप में बंधन होता है, उसे उसी रूप में भोगना पड़ता है, क्योंकि इसमें उत्कर्षण-अपकर्षण, उदीरणा और संक्रमण चारों का अभाव रहता है।

7.10 सारांश -इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त में कर्म के फल-विपाक की नियतता और अनियतता को सम्यक् प्रकार से समन्वित किया गया है तथा यह बताया गया है कि जैसे-जैसे आत्मा कषायों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ता है वह कर्म फल-विषयक नियतता को समाप्त करने में सक्षम होता जाता है। कर्म कितना बलवान् होगा, यह बात केवल कर्म के बल पर निर्भर नहीं है, अपितु आत्मा की पवित्रता पर भी निर्भर है। इन अवस्थाओं का चित्रण यह भी बताता है कि कर्मों का विपाक या उदय होना एक अलग स्थिति है तथा उससे नवीन कर्मों का बंध होना न होना एक अलग स्थिति है। कषाय युक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन कर्मों का बंध करता है। इस्के विपरीत कषाय-मुक्त आत्मा कर्मों के उदय में नवीन बंध नहीं करता, मात्र पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

7.11 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कर्मबंध और मुक्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें।

अथवा

2. कर्म की दस अवस्थाओं को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्मबंधन की हेतुभूत मूल शक्तियां कौन सी हैं और वे किस रूप में अपनी भूमिका अदा करती है?
2. जैनदर्शन में औपक्रमिकी निर्जरा के महत्त्व को दर्शायें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (एक पंक्ति में उत्तर दें)

1. बंध किसे कहते हैं?
2. बंधन से मुक्ति कैसे संभव है?
3. आस्रव क्या हैं?
4. आस्रव को बंध का हेतु क्यों कहा गया है?
5. योगशक्ति और कषायशक्ति के कार्य भेद को दर्शायें।
6. द्रव्यबंध और भावबंध में अंतर स्पष्ट करें।
7. बंध के कितने प्रकार हैं? और कौन-कौन से हैं?
8. संवर और निर्जरा में क्या अंतर है?
9. संवर के पांच अंग कौन-कौन से हैं?
10. सकाम और अकाम निर्जरा से आप क्या समझते हैं?

संदर्भ ग्रन्थ

1. जैन धर्म और दर्शन—मुनिश्री प्रमाणसागर
2. जैनविद्या के आयाम खण्ड-6 (डॉ. सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रन्थ)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग : 4

इकाई : 8 अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 अनेकान्त का अर्थ
  8.2.1 वस्तु अनेकान्तात्मक है
  8.2.2 विरोध में अविरोध कैसे?
  8.2.3 सत्य साधक दृष्टि
  8.2.4 अनेकान्त की आवश्यकता
  8.2.5 समन्वय का श्रेष्ठ साधन
8.3 स्याद्वाद
  8.3.1 स्याद्वाद का अर्थ
  8.3.2 स्याद्वाद संशयवाद नहीं
  8.3.3 नित्य व्यवहार की वस्तु
8.4 सप्तभंगी
  8.4.1 सप्तभंगी का अर्थ
  8.4.2 भंग सात ही क्यों?
  8.4.3 अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभंगी में सम्बन्ध
8.5 सारांश
8.6 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

अनेकान्त जैनदर्शन का हृदय है।समस्त जैन वाङ्मय अनेकान्त के आधार पर वर्णित हैं, उसके बिना जैनदर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्म हैं। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकान्त की दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। अनेकान्त दर्शन बहुत व्यापक है, इसके बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकान्त की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अत: उसके स्वरूप को जान लेना भी जरूरी है।

8.1 उद्देश्य

अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी का परस्पर व्यापक-व्याप्य भाव सम्बन्ध है। अनेकान्तवाद के कारण स्याद्वाद का उदय हुआ और स्याद्वाद के परिणामस्वरूप सप्तभंगी का सिद्धान्त अस्तित्व में आया। इनका संक्षिप्त परिचय सरल और सुगम भाषा में हम मुनिश्री प्रमाण सागरजी की लेखनी से प्रसूत इस अध्याय में प्राप्त करेंगे।

8.2 अनेकान्त का अर्थ

'अनेकान्त' शब्द अनेक और अंत इन दो शब्दों के सम्मेलन से बना है। 'अनेक' का अर्थ होता है एक से अधिक, नाना। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने 'अनेक' के अर्थ को सुनिश्चित करते हुए उसका अर्थ कम से कम तीन और अधिक से अधिक अनन्त किया है। अंत का अर्थ है धर्म।' यद्यपि अंत का अर्थ विनाश, छोर आदि भी होता है पर वह यहां अभिप्रेत नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिण्ड है। वह सत् भी है असत् भी, एक भी है अनेक भी, नित्य भी है अनित्य भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगल वस्तु में अंतर्गर्भित है। उसका परिज्ञान हमें एकान्त दृष्टि से नहीं हो सकता, उसके लिए अनेकान्तात्मक दृष्टि चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.2.1 वस्तु अनेकान्तात्मक है

प्रत्येक पदार्थ जहां अपने वर्तमान स्वरूप की अपेक्षा सत् है वहीं अतीत और अनागत स्वरूप की अपेक्षा वह असत् भी है। जैसे घट अपने वर्तमान घट स्वरूप की अपेक्षा ही सत् है, वहीं अतीतकालिक मिट्टी अथवा अनागतकालिक कपाल रूप की अपेक्षा असत् है। इसी तरह वह अपने अखण्ड गुण-धर्मों की अपेक्षा एक है तथा अपने रूप, रस आदि अनेक गुणों की अपेक्षा अनेक है। प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक' परिणमन होता आ रहा है। प्रतिसमय परिणमनशील होने के बाद भी उसकी चिरसन्तति सर्वथा विच्छिन्न नहीं होती, इसलिए वह नित्य है तथा उसकी पर्याय प्रतिसमय बदल रही है इस अपेक्षा से वह अनित्य भी है। इस प्रकार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्मों का पिण्ड है। इस दृष्टि से हम कहें कि वस्तु बहुमुखी है, बहुआयामी है। उसके एक पक्ष को ग्रहण करके उसका पूर्ण परिचय नहीं पाया जा सकता। हम अपने एकाङ्गी/एक कोणिक/एकपक्षीय दृष्टि से वस्तु के एकांश को ही जान सकते हैं। वस्तु के विराट् स्वरूप को बहुमुखी दृष्टि से ही समझा जा सकता है, तभी उसका समग्र बोध होगा। इस प्रकार अनेकान्त का अर्थ हुआ वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि।

8.2.2 विरोध में अविरोध कैसे?

एक ही वस्तु परस्पर विरोधी धर्म वाली कैसे हो सकती है? यह बात सामान्य व्यक्ति के मन में उठ सकती है; किन्तु हम वस्तु तत्त्व पर गहराई से विचार करें तो जगत् के चराचर सभी पदार्थ परस्पर विरोधी ही दिखाई पड़ेंगे। यह सब अनेकान्तात्मक दृष्टि में ही संभव है, क्योंकि वस्तु को हम जैसा देखना चाहें, वस्तु हमें वैसी ही दिखती है। पानी से भरे आधे गिलास को हम यह भी कह सकते हैं कि 'गिलास आधा भरा है' तथा यह भी कहा जा सकता है कि 'गिलास आधा खाली है।' यह सब देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर है, क्योंकि गिलास खाली भी है और उसी समय भरा भी है। यदि हम एकान्त आग्रहपूर्वक 'गिलास आधा भरा ही है' गिलास आधा खाली ही है', ऐसा कहते हैं तो यह गिलास के साथ अन्याय होगा। यथार्थत: वह खाली और भरा दोनों है। इसी प्रकार जगत् के प्रत्येक पदार्थ हमें अनेकान्तात्मक दिखते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। एक ही अणु में जहां आकर्षण शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें विकर्षण शक्ति भी अपना परिचय दे रही है। जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। उसके पीने से हमारी प्राण रक्षा होती है, वहीं जल, तैरते समय असावधानी होने पर जानलेवा सिद्ध होता है। अग्नि हमारे लिए बहुत उपकारक है, यह सभी जानते हैं। वह हमारे भोजन आदि के निर्माण में सहायक होती है; किन्तु वही अग्नि जब किसी मकान में लग जाती है, तब कितनी संहारक होती है, कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार एक ही अग्नि में पाचकत्व और दाहकत्व जैसे दो विरोधी धर्म हमें दिखते हैं। जिस भोजन से हमारी क्षुधा दूर होती है, जो भोजन भूखे का प्राणरक्षक होता है, वही भोजन किसी अजीर्णग्रस्त रोगी के लिए विष साबित होता है। विष जो हमारे प्राणों का घातक है वही वैद्यों द्वारा कभी-कभी औषधि के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु अमृत और विष दोनों है।

एकान्तवादियों को यह बात समझ में नहीं आ सकती। वे कहते हैं कि 'इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने पर विरोध उपस्थित होता है।' लेकिन विरोध देखने वाले की दृष्टि में हो सकता है, विरोध वस्तु में नहीं है। वस्तु तो अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आश्रय स्थल है। विरोध तो तब होता जब अग्नि को जिस दृष्टि से पाचक कहा जाये उसी दृष्टि से दाहक कहते हैं, किन्तु जब परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सापेक्ष कथन किया जाता है तब विरोध की कोई संभावना नहीं रहती। सब कुछ सापेक्ष ही है।

इसे इस उदाहरण से समझें—शिक्षक ने छात्रों के सामने बोर्ड पर एक रेखा खींची और कहा कि 'इस रेखा को बिना मिटाये छोटी करो।' सभी छात्र सोच में पड़ गये कि रेखा को मिटाये बिना उसे छोटी कैसे किया जा सकता है? किन्तु एक बुद्धिमान् छात्र उठा, उसने चॉक उठाया और उस रेखा के नीचे बड़ी रेखा खींच दी। पहली रेखा अपने-आप छोटी हो गयी। सारे छात्र चकित थे। शिक्षक ने पुन: कहा—'अब इस रेखा को छोटी करो।' छात्र पुन: उठा और उसके नीचे एक बड़ी रेखा और खींच दी। वह रेखा भी छोटी हो गयी। इस प्रकार एक हो रेखा किसी अपेक्षा से बड़ी है तो किसी अपेक्षा से छोटी भी है। इस उदाहरण में सिर्फ इतना ही बताना है कि उस रेखा में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म स्वरूपत: विद्यमान है और उसके ऊपर खींची गयी बड़ी और छोटी रेखाओं के कारण उसमें छोटेपन और बड़ेपन का व्यवहार हुआ। इससे स्पष्ट है कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं। परस्पर विरोधी धर्मों का सही मूल्यांकन सापेक्ष/अनेकान्त दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। यदि हम वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसमें ही पूरी वस्तु का निश्चय कर बैठते हैं तो हमें वस्तु का सही परिज्ञान नहीं हो सकता। हमारा ज्ञान अधूरा रहेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.2.3 सत्य साधक दृष्टि

यह अनेकान्त दृष्टि हमें एकांगी विचार से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम होता है कि हम सत्य को समझने लगते हैं। सत्य को समझने के लिए अनेकान्त दृष्टि ही एकमात्र साधन है। जो विचारक वस्तु के अनेकान्त धर्म को अपनी दृष्टि से ओझल कर उसके किसी एक ही धर्म को पकड़कर बैठ जाते हैं, वे सत्य को नहीं पा सकते।

वस्तु के उक्त स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण ही विभिन्न मतवादों की उत्पत्ति हुई है तथा सब अपने मत को सत्य मानने के साथ-साथ दूसरे के मत को असत्य करार दे रहे हैं। नित्यवादी पदार्थ के नित्य अंश को पकड़कर अनित्यवादियों को भला-बुरा कहता है, तो अनित्यवादी नित्यवादियों को उखाड़ फेंकने की कोशिश में है। सभी, वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण कर सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मानने का झूठा आग्रह कर बैठे हैं। अनेकान्त दृष्टि कहती है कि वस्तु को समग्रत: जानने के लिए समग्र दृष्टि की जरूरत है। हम अपनी एकान्त दृष्टि से वस्तु के एक अंश को ही जान सकते हैं, सत्यांश कभी भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। वस्तु के विविध संदर्भों पर विचार करने पर ही उसका संपूर्ण बोध हो सकता है। वस्तु के एक अंश को जानकर उसे ही पूर्ण वस्तु मान बैठना हमारी भूल है। उसके विभिन्न पहलुओं को मिलाने का प्रयास करो, वस्तु अपने पूर्ण रूप में साकार हो उठेगी।' इस तथ्य को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं—मान लीजिए हिमालय पर अनेक पर्वतारोही विभिन्न दिशाओं से चढ़ते हैं और भिन्न-भिन्न दिशाओं से उसके चित्र खींचते हैं। कोई पूर्व से, कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि भिन्न-भिन्न दिशाओं से लिये गये चित्र भी एक-दूसरे से भिन्न होंगे। फलत: वह एक-दूसरे से विपरीत दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में कोई हिमालय के एक ही दिशा के चित्र को सही बताकर अन्य दिशा के चित्रों को झूठा बताए या उसे हिमालय का चित्र मानने से इंकार कर दे तो उसे हम क्या कहेंगे? वस्तुत: सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय का एकदेशीय प्रतिबिंब ही उनमें अंकित है, किन्तु हम उन्हें असत्य या अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाया जाये तो हिमालय का पूर्ण चित्र अपने-आप हाथ आ जाएगा। खण्ड-खण्ड हिमालय अखण्ड आकृति ले लेगा और इसके साथ ही हिमालय के दृश्यों का खण्डित सौन्दर्य अखण्डित सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात वस्तुगत सत्य के साथ है। हम वस्तु के एकपक्ष से उसके समग्र रूप को नहीं जान सकते। वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपने नाना संदर्भों के बीच सुंदर समन्वय स्थापित करने के बाद ही हम वास्तविक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

8.2.4 अनेकान्त की आवश्यकता

वस्तु के यथार्थ और सम्पूर्ण ज्ञान के लिए अनेकान्त की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु/बात को ठीक-ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार अथवा एकान्त आग्रह लादने पर बड़े अनर्थों की आशंका रहती है। इस विषय में एक पारम्परिक कथा है—

किसी गांव में पहली बार एक हाथी आया। गांव वालों ने अब तक हाथी नहीं देखा था। वे हाथी से पूरी तरह अपरिचित थे। उस गांव में पांच अंधे भी रहते थे। उन्होंने भी जब सुना कि गांव में हाथी आया है तो सभी की तरह वे भी हाथी के पास पहुंचे। आंखों के अभाव में सबने हाथी को छूकर अलग-अलग अनुभव किया। उनमें से एक ने कहा, 'हाथी रस्सी की तरह है,' उसने पूंछ को छुआ था। दूसरे ने उसे पैर को छुआ और कहा कि 'हाथी तो खम्भे जैसी कोई आकृति है।' तीसरे ने हाथी की सूंड को छुआ और कहा, 'अरे! यह तो कोई झुलने वाली वस्तु की आकृति का प्राणी है।' चौथे ने हाथी के पेट को छुआ और कहा, 'हाथी तो दीवार की तरह है।' पांचवें ने उसके कान को स्पर्श किया और कहा, 'हो न हो यह तो सूप की आकृति वाला कोई प्राणी है।' अलग-अलग अनुभवों के आधार पर पांचों के अपने-अपने निष्कर्ष थे। पांचों ने हाथी के अंशों को जाना था। परिणामत: पांचों एक जगह बैठकर हाथी के विषय में झगड़ने लगे। सब अपनी-अपनी बात पर अड़े थे। इतने में एक समझदार आंख वाला व्यक्ति आया। उसने उनके विवाद का कारण जानकर कहा, 'भाई झगड़ते क्यों हो? तुम सब अंधेरे में हो, तुममें से किसी ने भी हाथी को पूर्ण नहीं जाना है। केवल हाथी के एक अंश को जानकर और उसी को पूर्ण हाथी समझकर आपस में लड़ रहे हैं। ध्यान से सुनो—मैं तुम्हें हाथी का पूर्ण रूप बताता हूं। कान, पेट, पैर, सूंड और पूंछ आदि सभी अवयवों को मिलाने पर हाथी का पूर्ण रूप होता है। कान पकड़ने वालों ने समझ लिया कि हाथी इतना ही है और ऐसा ही है। पैर पकड़ने वालों ने भी ऐसा ही समझा है; लेकिन तुम लोगों का ऐसा समझना कूप-मंडूकता है। कुंए में रहने वाला मेंढक समझता है संसार इतना ही है। हाथी का स्वरूप केवल कान, पैर आदि ही नहीं है, किन्तु कान-पैर आदि अवयवों को मिला देने पर ही हाथी का पूर्ण रूप बनता है।' अंधों को बात समझ में आ गयी। उन्हें अपनी-अपनी एकान्त दृष्टि पर पश्चाताप हुआ। सभी ने हाथी विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर संतोष का अनुभव किया।

8.2.5 समन्वय का श्रेष्ठ साधन

यथार्थ में अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। सबसे विचारणीय बात तो यह है कि 'एकान्त' मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान बैठता है, और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है; लेकिन अनेकान्त उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय स्थापित करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि वस्तु तत्त्व के विभिन्न पक्षों को विभिन्न दृष्टि से स्वीकार कर समन्वय का श्रेष्ठ साधन बनता है। अनेकान्त दृष्टि का अर्थ ही यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूतिपूर्वक विचार कर परस्पर सौजन्य और सौहार्द स्थापित करे। अपने एकान्त और संकीर्ण विचारधारा के कारण ही आज कलह और कलुषता की स्थिति निर्मित होती जा रही है, किन्तु संकीर्ण दायरों से मुक्त होकर जहां प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूतिपूर्वक विचार कर उसका समुचित आदर किया जाता है वहां कलह और कलुषता की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।

आज वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक या जीवन के किसी भी क्षेत्र में हमारे एकान्तिक रुख के कारण ही विसंवाद हो रहे हैं। इस क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि बहुत उपयोगी है, क्योंकि अनेकान्त दृष्टि सिर्फ अपनी ही बात नहीं करती, अपितु सामने वाले की बात को भी धैर्यपूर्वक सुनती है। जहां सिर्फ अपनी ही बात का आग्रह होता है सत्य हमसे दूर हो जाता है। परंतु जहां अपनी बात के साथ-साथ दूसरों की बात की भी सहज स्वीकृति रहती है, सत्य का सुंदर फूल वहीं खिलता है। एकान्त 'ही' का प्रतीक है तो अनेकान्त 'भी' का। जहां 'ही' का आग्रह होता है वहां संघर्ष जन्म लेता है तथा जहां 'भी' की अनुगूंज होती है, वहां समन्वय की सुरभि फैलती है। 'ही' में कलह है 'भी' में समन्वय, 'ही' में आग्रह है 'भी' में अपेक्षा। कहा गया है कि 'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को खींचतानकर वहीं ले जाता है, जहां पहले से ही उसकी बुद्धि जमी होती है।' किन्तु पक्षपात से रहित मध्यस्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि को वहीं ले जाता है जहां उसे युक्तियां ले जाती हैं। वह सत्य क्या है? इसको मुख्यता देता है जबकि एकान्तवादी मेरी दृष्टि में सत्य क्या है? इसको मान्यता देता है।

अनेकान्त दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तु स्वरूप को ही शुद्ध दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और दूसरों के सत्यांश को स्वीकारने के लिए तत्पर नहीं है, वह तत्त्वरूपी नवनीत को प्राप्त नहीं कर सकता। गोपी नवनीत तभी पाती है, जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। अगर वह एक ही छोर खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो नवनीत नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधान रूप से प्रकाशित किया जाता है, तभी सत्य का नवनीत हाथ लगता है। अतएव एकान्त के गंदले पोखर से निकलकर अनेकान्त के शीतल सरोवर में अवगाहित होना ही श्रेयस्कर है।

8.3 स्याद्वाद

जब वस्तु तत्त्व ही अनेकान्तात्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा-शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा-शैली का नाम है जिससे अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्ररूपण होता है। प्राय: अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है किन्तु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकान्त ज्ञानात्मक है और स्याद्वाद वचनात्मक। अनेकान्त और स्याद्वाद में वाच्य वाचक सम्बन्ध है। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक, अनेकान्त प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। अत: अनेकान्त और स्याद्वाद को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। हां! अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है। वस्तुत: 'स्याद्वाद' अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।

8.3.1 स्याद्वाद का अर्थ

'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। प्राकृत में स्यात् शब्द अव्यय निपात है। क्रिया या प्रश्नादि रूप नहीं। इसका अर्थ है कथञ्चित् किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जिस सिद्धान्त के अन्तर्गत कोई भी वाक्य या शब्द किसी संदर्भ विशेष में वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह स्याद्वाद है। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ—विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अनेकान्तात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे कथञ्चित्वाद, अपेक्षावाद और सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए उन्हें मुख्य और गौण रूप में प्रस्तुत करते हुए अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। हम यह जान चुके हैं कि वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किन्तु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है। भाषा की एक सीमा होती है। वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि 'सकृदुच्चरित: शब्द: एकमेवार्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता, किन्तु स्यात्पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, 'स्यात्' पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य अर्थों का निषेध नहीं करता, बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हां जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण, क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद वचन में अनेकान्त सुव्यवस्थित रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.2.2 स्याद्वाद संशयवाद नहीं

'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अभिप्रेत अर्थ शायद, संभावना, संशय या कदाचित् आदि कदापि नहीं है, जिससे कि इसे शायदवाद, संशयवाद अथवा संभावनावाद कहा जा सके। जैन ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का वाची शब्द है जो एक निद्दिचत दृष्टिकोण को प्रकट करता है। वस्तुत: मूल जैन ग्रंथों को नहीं देख पाने के कारण ही स्याद्वाद के विषय में इस प्रकार की गलत धारणा बनी है।

'स्यात्' शब्द सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। वाणी के द्वारा वस्तु का एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए जिस या जिन धर्मों का कथन किया जाता है वे प्रधान हो जाते हैं और शेष गौण। 'स्यात्' शब्द अन्य अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है। जैसे यह कलम लम्बी है, गोल है, मोटी है, स्पर्श, रूप आदि अनेक गुण-धर्म उसके अंदर विद्यमान हैं। यदि कोई कहे कि 'स्यात्' यह कलम लम्बी है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शायद कलम लम्बी है। लम्बाई की दृष्टि से तो कलम लम्बी ही है क्योंकि कोई कलम लम्बी है, ऐसा सुनकर कलम को लम्बी ही न मान बैठे, इसलिए स्यात् लगाया गया है। 'स्यात्' शब्द का तो सिर्फ इतना ही उद्देश्य है कि वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म को ही पूर्ण वस्तु न मान लिया जाए। वह वस्तु के विवक्षित धर्मवाची शब्द को वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाने से रोकता है। 'स्यात्' शब्द कहता है कि 'वस्तु का अस्तित्व बहुत विराट् है। भाई! यह सत्य है कि तुम लम्बी हो पर तुम सिर्फ लम्बी ही नहीं हो। इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर ही तुम्हारा अधिकार हो। मोटाई, गोलाई आदि तुम्हारे शेष/अनन्त धर्म भाई भी तुम्हारे ही तरह अस्तित्व रखते हैं। वे उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी की तुम्हारी लम्बाई।'

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुए प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि—'शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिरोध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घट:' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान् ही है यह अवधारणा करके घड़े में रहने वाले रस, गंध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने अर्थ को मुख्यरूप से कहे यहां तक तो कोई हानि नहीं पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही अर्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति से दूर हटना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्यायपूर्ण वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। उसमें अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता है।

'रूपवान् घट:' में 'स्यात्' शब्द रूपवान् के साथ नहीं जुड़ता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है। किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह रूपवान् को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्त धर्म हैं रूप भी उसमें एक है। यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि में मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रस की विवक्षा होने पर रूप गौण राशि में शामिल हो जाएगा और रस प्रधान हो जाएगा। इस तरह समस्त शब्द गौण मुख्य भाव से अनेकान्त अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

हमने पहले ही बताया है कि स्यात् शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो 'स्यात्' को 'रूपवान्' के साथ जोड़ करके उसका अर्थ शायद, संभावना और कदाचित् करते हैं वे प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घट:' इस वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता, किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य 'नास्ति' आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है, वह पूरी वस्तु को ही न हड़प जाए और अपने नास्ति आदि अन्य सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रति वाक्य में चेतावनी देता रहता है, 'हे भाई अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा मत करना।' इस भय का कारण है कि प्राचीनकाल में नित्य ही है अनित्य ही है आदि वाक्यों ने वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक प्रकार के वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किए हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-विवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके अहंकार,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशांत और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार और पक्षपात का सृजन होता है।

8.3.3 नित्य व्यवहार की वस्तु

स्याद्वाद हमारी नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता को स्वीकार किए बिना हमारा लोक-व्यवहार एक क्षण को भी नहीं चल सकता। लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति अपनी पिता की अपेक्षा से पुत्र कहलाता है, वही अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता भी माना जाता है। इसी प्रकार अपने चाचा की अपेक्षा से भतीजा, भतीजे की अपेक्षा से चाचा, तो मामा की अपेक्षा से भांजा और भांजे की अपेक्षा से मामा कहलाता है। इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि पुत्र-पिता, चाचा-भतीजा, मामा-भांजा आदि सब रिश्ते परस्पर विरोधी हैं, किन्तु उनका एक ही व्यक्ति से भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से सुंदर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थ के विषय में भी सापेक्षता की दृष्टि से अविरोधी तत्त्व प्राप्त होते हैं। विरोधी धर्मों के समन्वय के अभाव में अर्थात् एकान्त के सद्भाव में सदा संघर्ष और विवाद होते रहते हैं, विवाद का अंत तो तभी संभव है जब स्याद्वाद से तत्त्वों का परस्पर सापेक्ष कथन करके अपने दृष्टिकोण के साथ अन्यों के दृष्टिकोणों का भी समन्वय हो। इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसंगत और वैज्ञानिक प्रणाली है। यह न अनिश्चयवाद है और न संदेहवाद। यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद किसी निश्चित अपेक्षा से एक निश्चित धर्म का प्रतिपादन करता है उसमें संदेह के लिए रञ्चमात्र भी अवकाश नहीं।

8.4 सप्तभंगी– जैन दर्शन के अनुसार सप्तभंगों का विवेचन यहां अपेक्षित है।

8.4.1 सप्तभंगी का अर्थ

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ विरोधी अनेक धर्म युगलों का पिण्ड है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं, परन्तु उन्हें एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इनके एक साथ प्रतिपादन के लिए भाष में क्रमिकता और सापेक्षता चाहिए। स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक ध र्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से अस्ति (विधि), नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म-युगल धर्म सप्तक लिये हुए हैं। वे सात धर्म सात वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णन शैली को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी अर्थात् सात प्रकार के भंग, सात प्रकार के वाक्य विन्यास। सप्तभंगी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि—प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी। प्रश्नानुसार वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। जब वस्तुगत किसी धर्म का विधि निषेधपूर्वक अविरुद्ध कथन करना होता है तब जैन दार्शनिक सप्तभंगी न्याय का अनुसरण करते हैं। सप्त भंग इस प्रकार हैं—

स्याद् अस्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही।

स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्यमेव—किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् आस्ति एव अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही पर किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्य एव—किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

8.4.2 भंग सात ही क्यों?

उक्त सात भंगों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग ही मूल भंग हैं। शेष चार भंगों में तीसरा, पांचवां और छठा भंग द्विसंयोगी है तथा सातवां भंग त्रिसंयोगी है। गणित के नियमानुसार भी 'अस्ति', 'नास्ति' और 'अवक्तव्य' इन तीन भंगों से चार संयुक्त भंग बनकर सप्तभंगी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च और खटाई इन तीनों स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक-मिर्च-खटाई, नमक-मिर्च, मिर्च-खटाई तथा नमक-मिर्च और खटाई। इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक धर्म युगल में सप्त ही भंग बनते हैं, न्यूनाधिक नहीं।

ये सातों भंग वक्ता के अभिप्राय अनुसार बनते हैं। वक्ता की विवक्षा के अनुसार एक ही वस्तु है भी कही जा सकती है और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कहा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नहीं है फिर भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अवक्तव्य है अथवा है भी नहीं भी है फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात दृष्टियों के आधार पर सप्तभंगियां बनी हैं। सप्तभंगियों की सार्थकता को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। किसी ने पूछा, 'आप ज्ञनी हैं?' इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो जानता ही हूं। मैं कह सकता हूं कि 'मैं स्याद् ज्ञानी हूं।' चूंकि मुझे आगम का ज्ञान है, किन्तु गणित, विज्ञान आदि अन्य अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से कहूं कि 'मैं स्याद् अज्ञानी हूं- तो भी अनुचित नहीं होगा। कितनी ही बातों का ज्ञान है और कितनी ही बातों का ज्ञान नहीं है। अत: मैं यदि कहूं कि 'मैं स्याद् ज्ञानी भी हूं और नहीं भी' तो भी असंगत नहीं होगा। अगर इस दुविधा के कारण मैं इतना ही कहूं कि 'मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं।' तो भी मेरा वचन असत्य नहीं होगा। इन्हीं आधारों पर सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूं कि 'मुझे कुछ ज्ञान है फिर भी कह नहीं सकता कि आप जिस विषय को मुझसे जानना चाहते हैं उस विषय पर प्रकाश डाल सकता हूं या नहीं।' इसी बात को दूसरी तरह से कह सकता हूं कि 'मैं ज्ञानी तो नहीं हूं फिर भी संभव है आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं।' अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूं कि 'मैं कुछ ज्ञानी भी हूं कुछ नहीं भी हूं।' अत: कह नहीं सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं।' ये समस्त वचन प्रणालियां अपनी-अपनी सार्थकता रखती हैं तथा पृथक्-पृथक् रूप में वस्तुस्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं।

स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है घट, जिसका स्वरूप नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार करते हैं—

स्यात् अस्ति एव घट: ..... किसी दृष्टि से घट है ही।

स्यात् नास्ति एव घट: ..... किसी दृष्टि से घट नहीं ही है।

स्यात् अस्ति नास्ति एव घट: .....किसी दृष्टि से घट है ही, किसी दृष्टि से घट नहीं ही है।

स्याद्वक्तव्य एव घट:..... किसी दृष्टि से घट अवक्तव्य ही है।

स्यादस्ति अवक्तव्य एव घट:..... किसी दृष्टि से घट है ही और किसी दृष्टि से अवक्तव्य ही है।

स्यात् नास्ति अवक्तव्य एव घट—किसी दृष्टि से घट नहीं ही है और किसी दृष्टि से घट अवक्तव्य ही है।

स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घट:..... किसी दृष्टि से घट है ही, कथञ्चिद् घट नहीं ही है और कथञ्चिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्यात् अस्ति एव घट:ˇ किसी दृष्टि से घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और अस्ति विशेषण है। एवकार विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व एकान्तवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म ही नहीं है, इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'एवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण—इन दोनों की निष्पत्ति के लिए 'एवकार' और 'स्यात्कार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।

सप्तभंगी के प्रथम भंग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथम भंग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है इसलिए विधि की प्रधानता से (सकारात्मक रूप) उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है। अत: निषेध की प्रधानता (निषेधात्मक रूप) से उसका प्रतिपादन किया जाता है।

जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म है। स्व-द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है पर-द्रव्य की अपेक्षा से घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षित पर्याय है, दूसरे के निमित्त से होने वाला पर्याय है, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य के यदि अस्तित्व धर्म हो और नास्तित्व धर्म न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है इसलिए उसे आपेक्षिक या पर निमित्तिक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है' ये दोनों विकल्प इस सत्यता को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस क्षण में उसका अस्तित्व है, उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि और निषेध) दोनों युगपत् (एक साथ) हैं, किन्तु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सकें, ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिए अवक्तव्य भंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नहीं किया जा सकता। उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और वक्तव्य आदि भंग घट वस्तु के द्रव्य क्षेत्र काल और भाव में हैं उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उसका अस्तित्व है, किन्तु अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भाव की अपेक्षा में उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व-नास्तित्व दोनों हैं और इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अत: वह (घट) अवक्तव्य भी है। अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य—ये तीनों मूल भंग हैं। शेष चार इन्हीं भंगों से निष्पन्न होते हैं। अत: उनका विवेचन अनावश्यक है। सप्तभंगी से घटादि वस्तु समग्र भावाभावात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

8.4.3 अनेकान्त स्याद्वाद और सप्तभंगी में सम्बन्ध

यहां पर जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी इन तीनों में क्या अंतर है? इसका उत्तर संक्षेप में यह है कि अनेकान्त वस्तु है/वाच्य है, स्याद्वाद उसका प्रतिपादक है/वाचक है और सप्तभंगी स्याद्वाद का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकान्त रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से ही करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। इसे और स्पष्टतया समझें कि स्याद्वाद स्याद्वादी वक्ता का वचन है। अनेकान्त उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है और सप्तभंगी उसके प्रतिपादन की शैली, पद्धति या प्रक्रिया है। सप्तभंगी में सात भंगों का समन्वय है इसलिए इसे सप्तभंगी कहा जाता है।

8.5 सारांश –इस प्रकार यह स्याद्वाद का संक्षिप्त रूप है। यद्यपि यह विषय अत्यन्त व्यापक है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, फिर भी यहां उसका संक्षिप्त स्वरूप दर्शाना ही इष्ट है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए जैन न्याय के ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

8.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अनेकान्तवाद सिद्धान्त के स्वरूप को सोदाहरण स्पष्ट करें तथा स्याद्वाद और सप्तभंगी के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. स्याद्वाद सिद्धान्त की आवश्यकता पर प्रकाश डालें।
2. सप्तभंगी सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए स्याद्वाद से इसके सम्बन्ध को दर्शायें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक पंक्ति में उत्तर दें:

1. 'अनेकान्त' शब्द का क्या अर्थ है?
2. वस्तु नित्य अनित्य दोनों कैसे?
3. वस्तु को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि क्यों आवश्यक है?
4. स्याद्वाद क्या है?
5. 'स्यात्' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है?
6. स्याद्वाद अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन कैसे करता है?
7. सप्तभंगी की परिभाषा क्या है?
8. सात भंग कौन-कौन से हैं?
9. 'अवक्तव्य' भंग को उदाहरण से स्पष्ट करें।
10. 'स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य' भंग से आप क्या समझें?

संदर्भ ग्रन्थ

1. जैन धर्म और दर्शन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 9 नयवाद

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 नयवाद
9.3 द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दृष्टि
9.4 दव्यार्थिक एवं प्रदेशार्थिक दृष्टि
9.5 व्यावहारिक तथा नैश्चयिक दृष्टि
9.6 अर्थनय और शब्दनय
9.7 नय के भेद
9.7.1 नैगम
9.7.2 व्यवहार
9.7.3 ऋजुसूत्र
9.7.4 शब्द
9.7.5 समभिरूढ
9.7.6 एवम्भूत
9.8 नयों का पारस्परिक सम्बन्ध
9.9 सारांश
9.10 अभ्यास प्रश्नावली

9.0 प्रस्तावना

हमारा 80% ज्ञान शब्द के सहारे होता है। शब्द पर आधारित ज्ञान की एक सीमा है। सीमा यह है कि प्रत्येक शब्द एक समय में किसी एक अर्थ की ओर ही संकेत करता है। दूसरी ओर, वक्ता भी एक अभिप्राय को लेकर के ही कोई बात कहता है। पूरा सत्य एक साथ कहने का सामर्थ्य सर्वज्ञ पुरुष में भी नही होता है। पूर्ण सत्य को कहने के लिए उसे खण्ड-खण्ड में बांटा जाता है। एक-एक पक्ष को उजागर किया जाता है। खण्ड सत्यों को मिलाकर सम्पूर्ण सत्य को जाना जाता है। इस अभिप्राय से ही नयवाद को अनेकान्तवाद का आधार कहा जाता है। खण्ड-सत्य अथवा अभिप्राय विशेष से कहा गया कथन ही नय कहलाता है। नय से जुड़ा हुआ सिद्धान्त नयवाद कहलाता है। नयवाद एक वस्तु के बारे में व्यक्ति के कितने दृष्टिकोण और कथन के कितने प्रकार हो सकते हैं। इस पर विस्तार से प्रकाश डालता है। प्रस्तुत पाठ इसी तथ्य का निदर्शन है।

9.1 उद्देश्य-प्रस्तुत पाठ में वस्तु सत्य को जानने के विभिन्न कोण और कथन शैली पर विचार किया गया है।

9.2 नयवाद

शब्दजन्य ज्ञान के दो प्रकार हैं—सकलादेश और विकलादेश। सकलादेश को प्रमाण या स्याद्वाद कहते हैं। विकलादेश को नय कहते हैं और सकलादेश को स्याद्वाद कहते हैं। वस्तुगत अन्य धर्मों का निषेध किये बिना किसी एक धर्म का कथन विकलादेश कहलाता है। सम्पूर्ण वस्तु का कथन स्याद्वाद या सकलादेश कहलाता है। नय अर्थात् विकलादेश द्वारा वस्तु के एक धर्म का कथन होता है। सकलादेश में वस्तु के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है। विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवक्षा कहने की जरूरत नही होती। विकलादेश इसीलिए सम्यक् माना जाता है कि वह अपने विवक्षित धर्म के अतिरिक्त जितने भी धर्म हैं उनका प्रतिषेध नही करता अपितु उन धर्मों के प्रति उसका जटस्थभाव होता है। शेष धर्मों से उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रयोजन के अभाव में वह उन धर्मों का न तो विधान करता है और न निषेध। सकलादेश और विकलादेश दोनों की दृष्टि में साकल्य और वैकल्य का अन्तर है। सकलादेश की विवक्षा सकल धर्मों के प्रति है, जबकि विकलादेश की विवक्षा विकल धर्म के प्रति है। यद्यपि दोनों यह जानते हैं कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है—अनेकान्तात्मक है, किंतु दोनों के कथन की मर्यादा भिन्न-भिन्न है। एक का कथन वस्तु के सभी धर्मों का ग्रहण करता है, जबकि दूसरे का कथन वस्तु के एक धर्म तक ही सीमित है। अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन की दो प्रकार की मर्यादा के कारण स्याद्वाद और नय का भिन्न-भिन्न निरूपण किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.3 द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक दृष्टि

वस्तु के निरूपण की जितनी भी दृष्टियां हैं, दो दृष्टियों मे विभाजित की जा सकती है। वे दो दृष्टियां द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक दृष्टि में सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियों का समावेश हो जाा है। विशेष या भेदमूलक जितनी भी दृष्टियां हैं, सबका समावेश पर्यायार्थिक दृष्टि में हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनों दृष्टियों का समर्थन करते हुए कहा कि भगवान् महावीर के प्रवचन मे मूलत: दो ही दृष्टियां हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। शेष सभी दृष्टियां इन्हीं की शाखा- प्रशाखाएं हैं।[2] महावीर का इन दो दृष्टियों से क्या अभिप्राय है, यह भी आगमों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। भगवतीसूत्र मे नारक जीवों की शाश्वतता और अशाश्वतता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से नारक जीव शाश्वत है और व्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से वह अशाश्वत है। अव्युच्छित्तिनय द्रव्यार्थिक दृष्टि का ही नाम है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर प्रत्येक पदार्थ नित्य मालूम होता है। इसीलिए द्रव्यार्थिक दृष्टि अभेदगामी है—सामान्यमूलक है—अन्वयपूर्वक है। व्युच्छित्तिनय का दूसरा नाम है पर्यायार्थिक दृष्टि। पर्यायदृष्टि से देखने पर वस्तु अनित्य मालूम होती है—अशाश्वत प्रतीत होती है। इसीलिए पर्यायार्थिक दृष्टि भेदगामी है—विशेषमूलक है। हम किसी भी दृष्टि को लें, वह या तो भेदमूलक होगी या अभेदमूलक, या तो विशेषमूलक होगी या सामान्यमूलक। उक्त दो प्रकारों को छोड़कर वह अन्यत्र कही नही जा सकती। इसलिए मूलत: द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही दृष्टियां हैं और इन दो दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो नय हैं। अन्य दृष्टियां इन्हीं के भेद-प्रभेद—शाखा-प्रशाखाओं के रूप में हैं।

9.4 द्रव्यार्थिक एवं प्रदेशार्थिक दृष्टि

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि की भांति द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि से भी पदार्थ का कथन हो सकता है। द्रव्यार्थिक दृष्टि एकता का प्रतिपादन करती है, यह हम देख चुके हैं। प्रदेशार्थिक दृष्टि अनेकता को अपना विषय बनाती है। पर्याय और प्रदेश में यह अन्त है कि पर्याय द्रव्य की देश और कालकृत नाना अवस्थाएं हैं। एक ही द्रव्य देश और काल के भेद से विविध रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसके विविध रूप ही विविध पर्याय हैं। द्रव्य के अवयव प्रदेश कहे जाते हैं। एक द्रव्य के अनेक अंश हो सकते हैं। एक-एक अंश एक-एक प्रदेश कहलाता है। पुद्गल का एक परमाणु जितना स्थान घेरता है वह एक प्रदेश है। जैन दर्शन के अनुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं और कुछ के अनियत। जीव के प्रदेश सर्व देश और सर्व काल में नियत हैं। उनकी संख्या असंख्य है, जो न कभी बढ़ती है, न कभी घटती है। वे जिस शरीर को व्याप्त करते हैं उसका परिमाण घट-बढ़ सकता है, किंतु प्रदेशों की संख्या उतनी ही रहती है। यह कैसे हो सकता है, इसका समाधान करने के लिए दीपक का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे एक ही दीपक के उतने ही प्रदेश छोटे कमरे में भी आ सकते हैं और बड़े कमरे में भी, उसी प्रकार एक ही आत्मा के उतने ही प्रदेश छोटे शरीर को भी व्याप्त कर सकते हैं और बड़े को भी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के प्रदेश भी नियत हैं। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेशों (परमाणुओं) का कोई निश्चित नियम नहीं। उनमें स्कन्ध के अनुसार न्यूनाधिकता होती रहती है। पर्याय के लिए ऐसा कोई नियम नही है। वे नियत संख्या में नही मिलते। जिस प्रकार पर्यायदृष्टि से भगवान् महावीर ने वस्तु का विचार किया है उसी प्रकार प्रदेशदृष्टि से भी पदार्थ का चिंतन किया है। उन्होंने कहा है कि 'मैं द्रव्यदृष्टि से एक हूं, ज्ञान और दर्शनरूप पर्यायों की दृष्टि से दो हूं, प्रदेशों की दृष्टि से अक्षय हूं, अव्यय हूं, अवस्थित हूं।' यहां पर महावीर ने प्रदेशदृष्टि का उपयोग एकता की सिद्धि के लिए किया है। संख्या की दृष्टि से प्रदेश नियत हैं, अत: उस दृष्टि से आत्मा अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। प्रदेशदृष्टि का उपयोग अनेकता की सिद्धि के लिए भी किया जाता है। द्रव्यदृष्टि से वस्तु एकरूप मालूम होती है, किंतु वही वस्तु प्रदेशदृष्टि से अनेकरूप दिखाई देती है, क्योंकि प्रदेश अनेक हैं। आत्मा द्रव्यदृष्टि से एक है किंतु प्रदेशदृष्टि से अनेक है, क्योंकि उनमें अनेक प्रदेश हैं। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय द्रव्य-दृष्टि से एक है किंतु प्रदेशदृष्टि से अनेक हैं। अन्य द्रव्यों के विषय में भी यही बात समझनी चहिए। जब किसी वस्तु का द्रव्यदृष्टि से विचार किया जाता है तब द्रव्यार्थिक नय का उपयोग किया जाता है। प्रदेशदृष्टि से विचार करते समय प्रदेशार्थिक नय काम में लाया जाता है।

9.5 व्यावहारिक तथा नैश्चयिक दृष्टि

व्यवहार और निश्चय का झगड़ा बहुत पुराना है। जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसी रूप में वह सत्य है या किसी अन्य रूप में? कुछ दार्शनिक वस्तु के दो रूप मानते हैं—प्रातिभासिक और पारमार्थिक। चार्वक आदि दार्शनिक प्रतिभास और परमार्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं करते। उनकी दृष्टि में इन्द्रियगम्य तत्त्व पारमार्थिक है। महावीर ने वस्तु के दोनों रूपों का समर्थन किया और अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों को यथार्थ बताया। इन्द्रियगम्य वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार की दृष्टि से यथार्थ है। इस स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है जो इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। वह केवल श्रुत या आत्मप्रत्यक्ष का विषय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है। यही नैश्चयिक दृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टि और नैश्चयिक दृष्टि में यही अन्तर है कि व्यावहारिक दृष्टि इन्द्रियाश्रित है, अत: स्थूल है, जबकि नैश्चयिक दृष्टि इन्द्रियातीत है, अत: सूक्ष्म है।एक दृष्टि से पदार्थ के स्थूल रूप का ज्ञान होता है और दूसरी से पदार्थ के सूक्ष्म रूप का। दोनों दृष्टियां सम्यक् हैं। दोनों यथार्थता को ग्रहण करती हैं। महावीर और गौतम के बीच एक संवाद है। गौतम महावीर से पूछते हैं—भगवन्! पतले गुड़ (फाणित) में कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं? महावीर उत्तर देते हैं—गौतम! इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से दिया जा सकता है। व्यावहारिक नय की दृष्टि से वह मधुर है और नैश्चयिक नय की अपेक्षा से वह पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श वाला है। इसी प्रकार गन्ध, स्पर्श आदि से सम्बंधित अनेक विषयों को लेकर व्यवहार और निश्चयनय से उत्तर दिया है।[1] इन दो दृष्टियों से उत्तर देने का कारण यह है कि वे व्यवहार को भी सत्य मानते थे। परमार्थ के आगे व्यवहार की उपेक्षा नहीं करना चाहते थे। व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों को समान रूप से महत्त्व देते थे।

9.6 अर्थनय और शब्दनय

आगमों में सात नयों का उल्लेख है। अनुयोगद्वार सूत्र में शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत को शब्दनय कहा गया है। बाद के दार्शनिकों ने सात नयों के स्पष्ट रूप से दो विभाग कर दिए—अर्थनय और शब्दनय। आगम में जब तीन नयों को शब्दनय कहा गया तो शेष चार नयों को अर्थनय कहना युक्तिसंगत ही है। जो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, वे अर्थनय हैं। प्रारंभ के चार नय—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थ को विषय करते हैं, अत: वे अर्थनय हैं। अन्तिम तीन नय—शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत शब्द को विषय करते हैं, अत: वे शब्दनय हैं। इन सातों नयों के स्वरूप का विश्लेषण करते समय मालूम हो जाएगा कि नैगमादि चार का विषय अर्थ क्यों है और शब्दादि तीन का विषय शब्द क्यों है? अर्थनय और शब्दनय के भेद की यह सूझ नई नहीं है। आगमों में इसका उल्लेख है।

9.7 नय के भेद

नय की मुख्य दृष्टियां क्या हो सकती हैं, यह हमने देखा। अब हम उसके भेदों का विचार करेंगे। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है कि वचन के जितने भी प्रकार या मार्ग हो सकते हैं, नय के उतने ही भेद हैं। जितने नय के भेद हैं, उतने ही मत हैं। इस कथन को यदि ठीक माना जाए तो नय के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। इन अनन्त प्रकारों का वर्णन हमारी शक्ति की मर्यादा के बाहर है। मोटे तौर पर नय के कितने भेद होते हैं, यह बताने का प्रयत्न जैन दर्शन के आचार्यों ने किया है। यह तो हम देख चुके हैं कि द्रव्य और पर्याय में सारे भेद समा जाते हैं। द्रव्य और पर्यायों को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके अवान्तर भेद किये गये हैं। इन भेदों की संख्या के विषय में कोई निश्चित परम्परा नहीं है। जैन दर्शन के इतिहास को देखने पर हमें एतद्विषयक तीन परम्पराएं मिलती हैं। एक परम्परा सीधे तौर पर नय के सात भेद करती है। ये सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। आगम और दिगम्बर ग्रंथ इस परम्परा का पालन करते हैं। दूसरी परम्परा नय के छ: भेद मानती है। इस परम्परा के अनुसार नैगम स्वतंत्र नय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस परम्परा की स्थापना की है। तीसरी परम्परा तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की है। इस परम्परा के अनुसार मूलरूप में नय के पांच भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द। इनमें से प्रथम अर्थात् नैगमनय के देश-परिक्षेपी और सर्व-परिक्षेपी इस प्रकार के दो भेद हो जाते हैं तथा अंतिम अर्थात् शब्दनय के सांप्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत ऐसे तीन भेद हैं। सात भेदों वाली परम्परा अधिक प्रसिद्ध है, अत: नैगमादि सात भेदों के स्वरूप का विवेचन किया जाएगा।

9.7.1 नैगम—गुण और गुणी, अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान्, क्रिया और कारक आदि में भेद और अभेद की विवक्षा कथन करना नैगमनय है। गुण और गुणी कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न। इसी प्रकार अवयव और अवयवी, जाति और जातिमान् आदि में भी कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद। किसी समय हमारी विवक्ष भेद की ओर होती है, किसी समय अभेद की ओर। जिस समय हमारी विवक्षा भेद की ओर होती है उस समय अभेद गौण हो जाता है और जिस समय हमारा प्रयोजन अभेद से होता है उस समय भेद गौण हो जाता है। भेद और अभेद का गौण और प्रधान भाव से ग्रहण करना नैगमनय है। दूसरे शब्दों में, भेद का ग्रहण करते समय अभेद को गौण समझना और भेद को मुख्य समझना और अभेद का ग्रहण करते समय भेद को गौण और अभेद को मुख्य समझना, नैगम है। उदाहरण के लिए गुण और गुणी को लें। जीव गुणी है और सुख उसका गुण है। 'जीव सुखी है' इस कथन में कभी जीव और सुख के अभेद की प्रधानता होती है और भेद की अप्रधानता, कभी भेद की प्रधानता होती है और अभेद की अप्रधानता। दोनों विवक्षाओं का ग्रहण नैगमनय है। कभी एक प्रधान होती है तो कभी दूसरी, किंतु होना चाहिए दोनों का ग्रहण। केवल एक का ग्रहण होने पर नैगम नहीं होता। दोनों का ग्रहण होने से यह सकलादेश हो जाएगा, क्योंकि सकलादेश में सम्पूर्ण वस्तु का कथन होता है, और वस्तु भेद और अभेद उभयरूप से ही सम्पूर्ण है। जब नैगम नय भेद और अभेद दोनों का ग्रहण करता है तो वह सम्पूर्ण वस्तु का ग्रहण करता है, यह स्वत: सिद्ध है। यह शंका ठीक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं। सकलादेश में प्रधानता और गौण भाव नहीं होता। वह समान रूप से सब धर्मों का ग्रहण करता है, जब कि नैगम नय में वस्तु के धर्मों का प्रधान और गौण भाव से ग्रहण होता है।

धर्म और धर्मी का गौण और प्रधान भाव से ग्रहण करना भी नैगमनय है। किसी समय धर्म की प्रधान भाव से विवक्षा होती है और धर्मी की गौण भाव से। किसी समय धर्मी की मुख्य विवक्षा होती है और धर्म की गौण। इन दोनों दशाओं में नैगम की प्रवृत्ति होती है। 'सुख जीव-गुण है' इस वाक्य में सुख प्रधान है क्योंकि वह विशेष्य है और जीव गौण है क्योंकि वह सुख का विशेषण है। यहां धर्म का प्रधान भाव से ग्रहण किया गया है और धर्मी का गौण भाव से। 'जीव सुखी है' इस वाक्य में जीव प्रधान है क्योंकि वह विशेष्य है और सुख गौण है क्योंकि वह विशेषण है। यहां धर्मी की प्रधान भाव से विवक्षा है और धर्म की गौण भाव से।[1]

कुछ लोग नैगम को संकल्पमात्रग्राही मानते हैं। जो कार्य किया जाने वाला है उस का संकल्प मात्र नैगमनय है। उदाहरण के लिए एक पुरुष कुल्हाड़ी लेकर जंगल में जा रहा है। मार्ग में कोई व्यक्ति मिलता है और पूछता है—'तुम कहां जा रहे हो?' वह पुरुष उत्तर देता है—'मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूं।' यहां पर वह पुरुष वास्तव में लकड़ी काटने जा रहा है। प्रस्थ तो बाद में बनेगा। प्रस्थ के संकल्प को दृष्टि में रखकर वह पुरुष उपर्युक्त ढंग से उत्तर देता है। उसका यह उत्तर नैगमनय की दृष्टि से ठीक है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी दुकान पर कपड़ा लेने के लिए जाता है और उससे कोई पूछता है कि तुम कहां जा रहे हो तो वह उत्तर देता है कि जरा कोट सिलाना है। वास्तव में वह व्यक्ति कोट के लिए कपड़ा लेने जा रहा है, न कि कोट सिलाने के लिए जा रहा है। कोट तो बाद में सिया जाएगा, किंतु उस संकल्प को दृष्टि में रखते हुए वह कहता है कि कोट सिलाने जा रहा हूं।

संग्रह—सामान्य या अभेद का ग्रहण करने वाली दृष्टि संग्रहनय है। स्वजाति के विरोध के बिना समस्त पदार्थों का एकत्व में संग्रह करना संग्रहनय कहलाता है। यह हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, भेदाभेदात्मक है। इन दो धर्मों में से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति उपेक्षाभाव रखना संग्रहनय है। यह नय दो प्रकार का है—पर और अपर। पर संग्रह में समस्त पदार्थों का एकत्व अभिप्रेत है। जीव-अजीवादि जितने भी भेद हैं, सबका सत्ता में समावेश हो जाता है।[3] कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो सत् न हो। दूसरे शब्दों में, जीवाजीवादि सत्तासामान्य के भेद हैं। एक ही सत्ता विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। जिस प्रकार नीलादि आकार वाले सभी ज्ञान ज्ञान-सामान्य के भेद हैं, उसी प्रकार जीवादि जितने भी पदार्थ हैं, सब सत् हैं। सत्ता-सामान्य की दृष्टि में सबका एकत्व में अन्तर्भाव हो जाता है। अपर संग्रह द्रव्यत्वादि अपर सामान्यों का ग्रहण करता है। सत्तासामान्य, जो कि पर सामान्य अथवा महासामान्य है, उसके सामान्यरूप अवान्तर भेदों का ग्रहण करना अपर संग्रह का कार्य है। सामान्य के दो प्रकार हैं—पर और अपर। पर सामान्य सत्तासामान्य को कहते हैं, जो प्रत्येक पदार्थ में रहता है। अपर सामान्य पर सामान्य के द्रव्य, गुण आदि भेदों में रहता है। द्रव्य में रहने वाली सत्ता पर सामान्य है और द्रव्य का जो द्रव्यसामान्य है वह अपर सामान्य है। इसी प्रकार गुण में सत्ता पर सामान्य है और गुणत्व अपर सामान्य है। द्रव्य के भी कई भेद-प्रभेद होते हैं। उदाहरण के लिए जीव द्रव्य का एक भेद है। जीव में जीवत्वसामान्य अपर सामान्य है। इस प्रकार जितने भी अपर सामान्य हो सकते हैं उन सबका ग्रहण करने वाला नय अपर संग्रह है। पर संग्रह और अपर संग्रह दोनों मिलकर जितने भी प्रकार के सामान्य या अभेद हो सकते हैं, सबका ग्रहण करते हैं। संग्रहनय सामान्यग्राही दृष्टि है।

9.7.2 व्यवहार—संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थ का विधिपूर्वक अवहरण (विभाग) करना व्यवहारनय है। जिस अर्थ का, संग्रहनय ग्रहण करता है उस अर्थ का विशेष रूप से बोध कराना हो तब उसका पृथक्करण करना पड़ता है। संग्रह तो सामान्यमात्र का ग्रहण कर लेता है, किंतु वह सामान्य किस प्रकार का है, इसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, संग्रहगृहीत सामान्य का भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है। यह नय भी उपर्युक्त दोनों नयों की भांति द्रव्य का ही ग्रहण करता है, किंतु इसका ग्रहण भेदपूर्वक है, अभेदपूर्वक नहीं। इसलिए इसका अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में है, पर्यायार्थिक नय में नहीं। इसकी विधि इस प्रकार है—पर संग्रह सत्तासामान्य का ग्रहण करता है। उसका विभाजन करते हुए व्यवहार कहता है—सत् क्या है? जो सत् है वह द्रव्य है या गुण? यदि वह द्रव्य है तो जीव द्रव्य है या अजीव द्रव्य? केवल जीव द्रव्य कहने से भी काम नहीं चल सकता। वह जीव नारक है, देव है, मनुष्य है या तिर्यंच है? इस प्रकार व्यवहारनय वहां तक भेद करता जाता है, जहां पुनः भेद की सम्भावना न हो। इस नय का मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि है। केवल सामान्य के बोध से या कथन से हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। व्यवहार के लिए हमेशा भेदबुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। यह भेदबुद्धि परिस्थिति की अनुकूलता को दृष्टि में रखते हुए अन्तिम भेद तक बढ़ सकती है, जहां पुनः भेद न हो सके। दूसरे शब्दों में, वह अंतिम विशेष का ग्रहण कर सकती है। व्यवहारगृहीत विशेष पर्यायों के रूप में नहीं होते अपितु द्रव्य के भेद के रूप में होते हैं। इसलिए व्यवहार का विषय भेदात्मक और विशेषात्मक होते हुए भी द्रव्यरूप है, न कि पर्यायरूप। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नयों में से व्यवहार का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया गया है। नैगम, संग्रह और व्यवहार इन तीनों नयों का द्रव्यार्थिक नय में अन्तर्भाव होता है। शेष चार नय पर्यायार्थिक नय के भेद हैं।

9.7.3 ऋजुसूत्र— भेद अथवा पर्याय की विवक्षा से जो कथन है वह ऋजुसूत्रनय का विषय है।[2] जिस प्रकार संग्रह का विषय सामान्य अथवा अभेद है उसी प्रकार ऋजुसूत्र का विषय पर्याय अथवा भेद है। यह नय भूत और भविष्यत् की उपेक्षा करके केवल वर्तमान का ग्रहण करता है। पर्याय की अवस्थिति वर्तमान काल में ही होती है। भूत और भविष्यत् काल में द्रव्य रहता है। मनुष्य कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर केवल वर्तमान को ही अपना प्रवृत्ति-क्षेत्र बनाता है। ऐसी स्थिति में उसकी बुद्धि में ऐसा प्रतिभास होता है कि जो वर्तमान है वही सत्य है। भूत और भावी वस्तु से उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह भूत और भावी का निषेध करता है। प्रयोजन के अभाव में उनकी ओर उपेक्षा-दृष्टि रखता है। वह यह मानता है कि वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न है। इस क्षण की अवस्था में और दूसरे क्षण की अवस्था में भेद है। इस क्षण की अवस्था इसी क्षण तक सीमित है। इसी प्रकार एक वस्तु की अवस्था दूसरी वस्तु की अवस्था से भिन्न है। 'कौआ काला है' इस वाक्य में कौए और कालेपन की जो एकता है उसकी उपेक्षा करने के लिए ऋजुसूत्रनय कहता है कि कौआ कौआ है और कालापन कालापन है। कौआ और कालापन भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं। यदि कालापन और कौआ एक होते तो भ्रमर भी कौआ हो जाता क्योंकि वह काल है। ऋजुसूत्र क्षणिकवाद में विश्वास रखता है। इसलिए प्रत्येक वस्तु को अस्थायी मानता है। जिस प्रकार कालभेद से वस्तुभेद की मान्यता है उसी प्रकार देशभेद से भी वस्तुभेद की मान्यता है। भिन्न-भिन्न देश में रहने वाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार ऋजुसूत्र प्रत्येक वस्तु में भेद ही भेद देखता है। यह भेद द्रव्यमूलक न होकर पर्यायमूलक है। अतः यह नय पर्यायार्थिक है। यहीं से पर्यायार्थिक नय का क्षेत्र आरम्भ होता है।

9.7.4 शब्द— काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थभेद मानना शब्दनय है। यह नय व आगे के दोनों नय शब्दशास्त्र से सम्बद्ध हैं। शब्दों के भेद से अर्थ में भेद करना इनका कार्य है। शब्दनय एक ही वस्तु में काल, कारक, लिंग आदि के भेद से भेद मानता है। लिंग तीन प्रकार का होता है—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। इन तीनों लिंगों से भिन्न-भिन्न अर्थ का बोध होता है। शब्दनय स्त्रीलिंग से वाच्य अर्थ का बोध पुल्लिंग से नहीं मानता। पुल्लिंग से वाच्य अर्थ का बोध नपुंसकलिंग से नहीं मानता। इसी प्रकार अन्य लिंगों की योजना भी कर लेनी चाहिए। स्त्रीलिंग में पुल्लिंग का अभिधान किया जाता है। जैसे तारका स्त्रीलिंग है और स्वाति पुल्लिंग है। पुल्लिंग से स्त्रीलिंग के अभिधान का उदाहरण है अवगम और विद्या। स्त्रीलिंग में नपुंसकलिंग का प्रयोग होता है—जैसे वीणा के लिए आतोद्य का प्रयोग। नपुंसकलिंग में स्त्रीलिंग का अभिधान किया जाता है—जैसे आयुध के लिए शक्ति का प्रयोग। पुल्लिंग में नपुंसकलिंग का प्रयोग किया जाता है—जैसे पट के लिए वस्त्र का प्रयोग। नपुंसकलिंग में पुल्लिंग का अभिधान होता है—जैसे द्रव्य के लिए परशु का प्रयोग। शब्दनय इन सबमें भेद मानता है। संख्या तीन प्रकार की है—एकत्व, द्वित्व और बहुत्व। एकत्व में द्वित्व का प्रयोग होता है—जैसे नक्षत्र और पुनर्वसु। एकत्व में बहुत्व का प्रयोग किया जाता है—जैसे नक्षत्र और शतभिषक्। द्वित्व में एकत्व का प्रयोग होता है—जैसे पुनर्वसु और पंचतारका। बहुत्व में एकत्व का प्रयोग होता है—जैसे आम और वन। बहुत्व में द्वित्व का अभिधान किया जाता है—जैसे देवमनुष्य और उभयराशि। शब्दनय इन प्रयोगों में भेद का व्यवहार करता है। काल के भेद से अर्थभेद का उदाहरण है—काशी नगरी थी और काशी नगरी है। इन दोनों वाक्यों के अर्थ में जो भेद है वह शब्दनय के कारण है। कारक-भेद से अर्थभेद हो जाता है—जैसे मोहन को, मोहन के लिए, मोहन से आदि शब्दों के अर्थ में भेद है। इसी प्रकार उपसर्ग के कारण भी एक ही धातु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। संस्थान, प्रस्थान, उपस्थान आदि के अर्थ में जो विभिन्नता है उसका यही कारण है। 'सम्' उपसर्ग लगाने से संस्थान का अर्थ आकार हो गया, 'प्र' उपसर्ग लगाने से प्रस्थान का अर्थ गमन हो गया और 'उप' उपसर्ग लगाने से उपस्थान का अर्थ उपस्थित हो गया। इस तरह विविध संयोगों के आधार पर विविध शब्दों के अर्थभेद की जो अनेक परम्पराएं प्रचलित हैं। वे सभी शब्दनय के अंतर्गत आ जाती हैं। शब्दशास्त्र का जितना विकास हुआ है उसके मूल में यही नय रहा है।

9.7.5 समभिरूढ— शब्दनय काल, कारक, लिंग आदि के भेद से ही अर्थ में भेद मानता है। एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानता। शब्दभेद के आधार पर अर्थभेद करने वाली बुद्धि जब कुछ और आगे बढ़ जाती है और व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद मानने के लिए तैयार हो जाती है तब समभिरूढनय की प्रवृत्ति होती है। यह नय कहता है कि केवल काल आदि के भेद से अर्थभेद मानना ही काफी नहीं है अपितु व्युत्पत्तिमूलक शब्दभेद से भी अर्थभेद मानना चाहिए। प्रत्येक शब्द अपनी-अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता है। उदाहरण के लिए हम इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दों को लें। शब्दनय की दृष्टि से देखने पर इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। यद्यपि ये तीनों शब्द भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति के आधार पर बनते हैं किंतु इनके वाच्य अर्थ में कोई भेद नहीं है। इसका कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह है कि इन तीनों का लिंग एक ही है। समभिरूढ यह मानने के लिए तैयार नहीं। वह कहता है कि यदि लिंग-भेद, संख्या-भेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं तो शब्दभेद से अर्थभेद मानने में क्या हानि है? यदि शब्दभेद से अर्थभेद नहीं माना जाए तो इन्द्र और शक्र दोनों का एक ही अर्थ हो जाए। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति 'इन्दनादिन्द्रः' अर्थात् 'जो शोभित हो वह इन्द्र है' इस प्रकार है। 'शकनाच्छक्रः' अर्थात् 'जो शक्तिशाली है वह शक्र है' यह शक्र की व्युत्पत्ति है। 'पूर्दारणात् पुरन्दरः' अर्थात् 'जो नगर आदि का ध्वंस करता है वह पुरन्दर है' इस प्रकार के अर्थ को व्यक्त करने वाला पुरन्दर शब्द है। जब इन शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न है तब इनका वाच्य अर्थ भी भिन्न-भिन्न ही होना चाहिए। जो इन्द्र है वह इन्द्र है, जो शक्र है वह शक्र हो सकता है और न शक्र पुरंदर हो सकता है। इसी प्रकार नृपति, भूपति, राजा इत्यादि जितने भी पर्यायवाची शब्द हैं, सब में अर्थभेद है।

9.7.6 एवम्भूत— समभिरूढनय व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानने तक ही सीमित है, किंतु एवम्भूतनय कहता है कि जब व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटित होता हो तभी उस शब्द का वह अर्थ मानना चाहिए। जिस शब्द का जो अर्थ होता है क्रिया (action) में उसके होने पर ही उस शब्द का प्रयोग करना एवम्भूतनय है। इस लक्षण को इन्द्र, शक्र और पुरंदर शब्दों के द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है। 'जो शोभित होता है वह इन्द्र है' इस व्युत्पत्ति को दृष्टि में रखते हुए जिस समय वह इन्द्रासन पर शोभित हो रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कहना चाहिए। शक्ति का प्रयोग करते समय या अन्य कार्य करते समय उसके लिए इंद्र शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं। जिस समय वह अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहना चाहिए। आगे और पीछे शक्र का प्रयोग करना इस नय की दृष्टि में ठीक नहीं। ध्वंस करते समय ही उसे पुरन्दर कहना चाहिए, पहले याबाद में नहीं। इसी प्रकार नृपति, भूपति, राजा आदि शब्दों के प्रयोगों में भी समझना चाहिए।

9.8 नयों का पारस्परिक सम्बन्ध

उत्तर-उत्तर बाद के नय का विषय पूर्व-पूर्व नय से कम होता जाता है। नैगमनय का विषय सबसे अधिक है क्योंकि वह सामान्य और विशेष — भेद और अभेद दोनो का ग्रहण करता है। कभी सामान्य को मुख्यता देता है और विशेष का गौणरूप से ग्रहण करता है तो कभी विशेष का मुख्यरूप से ग्रहण करता है और सामान्य का गौणरूप से अवलम्बन करता है। संग्रह का विषय नैगम से कम हो जाता है। वह केवल सामान्य अथवा अभेद का ग्रहण करता है। व्यवहार का विषय संग्रह से भी कम है क्योंकि वह संग्रह द्वारा गृहीत विषय का कुछ विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है। ऋजुसूत्र का विषय व्यवहार से कम है क्योंकि व्यवहार त्रैकालिक विषय की सत्ता मानता है, जबकि ऋजुसूत्र वर्तमान पदार्थ तक ही सीमित रहता है, अतः यहीं से पर्यायार्थिक नय का प्रारंभ माना जाता है। शब्द का विषय इससे भी कम है क्योंकि वह काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से अर्थ मे भेद मानता है। समभिरूढ का विषय शब्द से कम है क्योंकि वह पर्याययवाची शब्दों का व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानता है, जबकि शब्द पर्यायवाची शब्दों में किसी तरह का भेद अंगीकार नही करता। एवम्भूत का विषय समभिरूढ से भी कम है क्योंकि वह अर्थ को तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है जब अर्थ अपनी व्युत्पत्तिमूलक क्रिया मे लगा हुआ हो। अतएव यह स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। प्रत्येक का विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है।

सामान्य और विशेष के आधार पर इनका द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में विभाजन किसी खास दृष्टि से किया गया है। पहले के तीन नय सामान्य तत्त्व की ओर विशेषरूप से झुके हुए हैं और बाद के चार नय विशेष तत्त्व पर अधिक बल देते हैं। प्रथम तीन नयों मे सामान्य का विचार अधिक स्पष्ट है और शेष चार में विशेष का विचार अधिक स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता के कारण सात नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में विभक्त किया गया है। वास्तविकता यह है कि सामान्य और विशेष दोनों एक ही तत्त्व के दो अविभाज्य पक्ष हैं। ऐसी स्थिति में एकान्तरूप सामान्य का या विशेष का ग्रहण सम्भव नहीं।

अर्थनय और शब्दनय के रूप में जो विभाजन किया गया है वह भी इसी प्रकार का है। वास्तव में शब्द और अर्थ एकान्तरूप से भिन्न नहीं हो सकते। अर्थ की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए प्रथम चार नयों को अर्थनय कहा गया है। शब्द-प्राधान्य की दृष्टि से शेष तीन नय शब्दनय की कोटि में आते हैं।

9.9 सारांश- इस प्रकार पूर्व-पूर्व नय से उत्तर-उत्तर नय मे विषय की सूक्ष्मता से, सामन्य और विशेष की दृष्टि से, अर्थ और शब्द की दृष्टि से भेद अवश्य है किंतु यह भेद ऐकान्तक नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9.10 अभ्यास
प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. नयों का वर्गीकरण किन-किन दृष्टियों से किया जा सकता है?

अथवा

नय क्या है, इसे बताते हुए नय के भेदों को स्पष्ट करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नय और स्याद्वाद में क्या अन्तर है?
2. नय के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करें।

अथवा

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के अंतर को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

दो पंक्तियों में उत्तर दें—

1. द्रव्यार्थिक में किन दृष्टियों का समावेश होता है?
2. पर्याय और प्रदेश में क्या अन्तर है?
3. द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के दूसरे नाम क्या हैं?
4. व्यावहारिक और नैश्चयिक दृष्टि में क्या अन्तर है?
5. अर्थनय और शब्दनय कौन-कौन-से हैं?
6. नय के भेदों के विषय में कौन-सी तीन परंपराएं हैं?
7. नैगमनय से किसका बोध होता है?
8. संग्रह और व्यवहार नय किसके बोधक हैं?
9. नय और स्याद्वाद क्या हैं?
10. अर्थनय और शब्दनय से आप क्या समझते हैं?

संदर्भ पुस्तक:

1. जैन धर्म-दर्शन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग : 5

इकाई 10 आत्मवाद-पुनर्जन्मवाद

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 जीव और आत्मा
10.3 बद्ध आत्मा
10.4 चैतन्य अथवा उपयोग स्वरूप
10.5 जीव अनादि अनन्त
10.6 जीव और शरीर
10.7 प्राण: एक सेतु
10.8 जीव और काय
10.9 दोहरा व्यक्तित्व
10.10 सशरीर और अशरीर
10.11 मुक्त आत्मा
10.12 आत्मवाद बनाम पुनर्जन्म
10.13 विज्ञान में आत्मा और पुनर्जन्म के पोषक तत्व
10.14 जैन दर्शन और विज्ञान
10.15 पूर्वजन्म को जानने के साधन
10.11 सारांश
10.12 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

जैनदर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसने आत्मा के अस्तित्व के साथ-साथ उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। आयारो सबसे प्राचीन ग्रंथ है। उसमें आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'जो आत्मा है, वह विज्ञाता है।' आत्मा का लक्षण है विज्ञान। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि—'तं पडुच्च पडिसंखाए' उस ज्ञान की अपेक्षा से आत्मा का प्रतिसंख्यान होता है, ज्ञान होता है।

आत्मा का यह स्वरूप अत्यन्त प्राचीन है। 'चैतन्यलक्षणो जीव:, उपयोगलक्षणो जीव:' ये सारे सूत्र इसके फलित हैं। यहां विज्ञान का अर्थ है उपयोग। उपयोग चेतना में होता है। चेतना शक्ति है और उपयोग उसकी प्रवृत्ति है। 'यश्च विज्ञाता पदार्थानां परिच्छेदक: उपयोग:' विज्ञाताऽवस्था ही उपयोग की अवस्था है। आत्मा का यह स्वरूप संसारी आत्मा से सम्बद्ध है।

मुक्त आत्मा का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। मुक्त आत्मा वह है जो अनुसंचरण से अतीत है। भारतीय दर्शन में एक विषय रहा है अज्ञेयवाद। जो ज्ञेय नहीं है, वह अज्ञेय है। उपनिषदों में ब्रह्म को अज्ञेय कहा गया है। जैनदर्शन में मुक्त आत्मा का जो लक्षण वर्णित है, उसे अज्ञेयवाद का एक स्वरूप समझा जा सकता है।

10.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में आत्मतत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके आधार पर पुनर्जन्म तथा पूर्वजन्म को सत्यापित किया गया है। दूसरी ओर पुनर्जन्म से आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की भी सिद्धि की गई है।

10.2 जीव और आत्मा

'भगवती सूत्र' में जीव के तेईस पर्यायवाची नाम दिए हैं—1. जीव 2. जीवास्तिकाय 3. प्राण 4. भूत 5. सत्त्व 6. विज्ञ 7. वेदक 8. चेतस् 9. जेता 10. आत्मा 11. रंगण 12. हिण्डुक 13. पुद्गल 14. मानव 15. कर्ता 16. विकर्ता 17. जय 18. जन्तु 19. योनि 20. स्वयंभू 21. सशरीर 22. ज्ञायक 23. अंतरात्मा। (भगवती 20/17)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शाब्दिक दृष्टि से जीव का अर्थ होता है प्राण-धारण करने वाला और आत्मा का अर्थ होता है चेतना की विविध अवस्थाओं का अनुभव करने वाला; किन्तु स्थूल व्यवहार में इन्हें एकार्थक कहा जा सकता है। जीव दो प्रकार के होते हैं। बद्ध—कर्म-शरीर से बंधा हुआ; मुक्त—कर्म-शरीर से पृथग्भूत।

10.3 बद्ध आत्मा

पुनर्जन्म का मुख्य हेतु है कर्म। जीव जब बद्ध अवस्था में होता है तब पुनर्जन्म का चक्र आगे-से-आगे बढ़ता रहता है। बद्ध अवस्था कर्म, वातावरण और परिस्थिति से प्रभावित अवस्था है; इसलिए उसका स्वरूप बदलता रहता है, उसकी गति बदलती रहती है। वह कभी मनुष्य हो जाता है, कभी पशु, कभी नरक और कभी देव। उसकी जाति भी बदलती रहती है। कभी चतुरिन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय या एकेन्द्रिय। उसके उत्क्रमण और अपक्रमण दोनों होते रहते हैं। विकास के बाद अविकसित अवस्था में जाने का नियम चेतना की स्वतंत्रता का नियम है। विकास और अविकास दोनों सापेक्ष हैं। कषाय की स्थिति में दोनों घटित होते हैं; इसलिए चेतन जगत के नियमों को समझना सहज/सरल नहीं है। ये अचेतन जगत की भांति स्थिर नियम नहीं हैं। आंतरिक विकास और अविकास के साथ-साथ वे बदलते रहते हैं। उनकी परिवर्तनशीलता के कारण जीव का रूप भी बदलता रहता है। मुक्त आत्मा का स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि जीव का वास्तविक स्वरूप वह है जो मुक्त आत्मा में विकसित है। मुक्त आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति—ये सब अनन्त हो जाते हैं। उनकी अनन्तता ही जीव का वास्तविक स्वरूप है।

10.4 चैतन्य अथवा उपयोग स्वरूप

जीव का स्वरूप है उपयोग, ज्ञानात्मक व संवेदनात्मक क्रिया। जीव स्व-परप्रकाशी है। उसमें अपने आपको और वस्तु जगत—दोनों को जानने की क्षमता है। उसका चैतन्य साधारणतया आवृत-अनावृत अवस्था में रहता है। चैतन्य एक सूर्य है। वह आवरण के बादलों से ढंक जाने पर भी सर्वथा आच्छन्न नहीं होता। आकाश में बादलों का घटाटोप है, सूर्य उससे ढंका हुआ है फिर भी दिन और रात का विभाग बना रहता है। जीव में विद्यमान ज्ञानरूपी चैतन्य आवरण से पूर्ण आवृत कभी नहीं रहता। उसमें चैतन्य-विकास की कुछ रश्मियां निरन्तर प्रकट रहती हैं। यदि वे प्रकट न हों तो जीव और अजीव में कोई भेद रेखा नहीं खींची जा सकती।

आवृत-अनावृत चैतन्य में जानने की क्रिया निरन्तर नहीं होती; इसलिए जीव जब जानने का प्रयत्न करता है तब उसका ज्ञान केवल अस्तित्व में रहता है। इस आधार पर जीव की अनुपयोग और उपयोग, इन दो अवस्थाओं का निर्माण होता है

आवृत-अनावृत = अनुपयोग; ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता।
आवृत-अनावृत चैतन्य = उपयोग; ज्ञेय का ज्ञान होता है।

विकास का अंतिम बिन्दु उपलब्ध होने पर, ज्ञान के आवरण का सर्वथा विलय हो जाने पर चैतन्य अनावृत हो जाता है। उस अवस्था में चैतन्य का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

अनावृत चैतन्य-सतत उपयोग = ज्ञेय का सतत बोध।

10.5 जीव: अनादि-अनन्त

जीव अनादि और अनन्त है। वह अकृत और अनुत्पन्न है, इसलिए अनादि है। वह अकृत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। चैतन्य उसका मौलिक गुण या स्वरूप है; इसलिए वह भी अनादि-अनन्त है। अनेकान्त की दृष्टि से प्रत्येक अस्तित्व त्रिरूप होता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों सामन्जित रूप में द्रव्य के लक्षण हैं। ध्रौव्य द्रव्य का शाश्वत स्वरूप है। उत्पाद और व्यय ये दोनों उसके अशाश्वत रूप हैं। प्रत्येक द्रव्य शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, इस अपेक्षा से वह शाश्वत है। उसका रूपान्तरण होता रहता है, इस अपेक्षा से अशाश्वत है। चैतन्य शाश्वत है। आवरण उसका अशाश्वत भाव है। वह पौद्गलिक है, जीव का स्वभाव नहीं है। वह प्रवाह के रूप में आता है और अपनी अवधि पूर्ण कर चला जाता है। उचित उपाय के द्वारा उसका अंत भी किया जा सकता है। इसे दो रूपों में देखा जा सकता है—

ज्ञान का आवरण, अनादि-अनन्त (उचित उपाय के अभाव में)
ज्ञान का आवरण, अनादि सान्त (उचित उपाय के होने पर)

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी जीव में पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं हो सकती। आंशिक अनावरण प्रत्येक जीव में विकसित होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.6 जीव और शरीर

प्रत्येक संसारी जीव के सामान्यतया तीन शरीर होते हैं:

1. औदारिक शरीर (स्थूल शरीर);
2. तैजस शरीर (सूक्ष्म शरीर);
3. कर्म शरीर (सूक्ष्मतर शरीर)।

औदारिक शरीर का जीवन के आरंभ में निर्माण होता है और जीवन की समाप्ति के साथ उसका वियोग हो जाता है। वह कर्म-शरीर का संवादी शरीर होता है। कर्म-शरीर में चेतना के विकास और अवरोध के जितने केन्द्र होते हैं, वे सब-के-सब औदारिक शरीर में बन जाते हैं। कर्म शरीर से आने वाले स्पन्दन औदारिक शरीर के केन्द्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। वे व्यक्ति के दृष्टिकोण, व्यहार और आचरण को प्रभावित करते हैं।

तैजस और कर्म शरीर जीव के साथ निरन्तर जुड़े रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् और पुनर्जन्म से पूर्व जो गति होती है उसे अंतराल गति कहा जाता है। उस गति में भी वे जीव के साथ रहते हैं, इसलिए उसके स्थूल शरीर का पुनर्निर्माण या पुनर्जन्म होता है।

वैक्रिय और आहारक—ये दोनों शरीर लब्धि या योगज विभूति से उत्पन्न होते हैं। वैक्रिय शरीर के नाना रूपों का निर्माण किया जा सकता है। आहारक शरीर के द्वारा विचारों का संप्रेषण किया जा सकता है। कुछ जीवों के वैक्रिय शरीर जन्मगत भी होता है।

10.7 प्राण: एक सेतु

जीव और शरीर के बीच प्राण एक सेतु है। शरीर, वचन और मन का उपयोग प्राणशक्ति के द्वारा ही किया जाता है। एक ही प्राणशक्ति कार्य-भेद से दस भागों में विभक्त हो जाती है—

1. स्पर्शन इन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (स्पर्शनेन्द्रिय प्राण)।
2. रसनेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (रसनेन्द्रिय प्राण)।
3. घ्राणेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (घ्राणेन्द्रिय प्राण)।
4. चक्षुरिन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (चक्षु-इन्द्रिय प्राण)।
5. श्रोत्रेन्द्रिय को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्रोत्रेन्द्रिय प्राण)।
6. शरीर को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (शरीर प्राण)
7. श्वासोच्छ्वास को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्वासोच्छ्वास प्राण)।
8. वाणी को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (भाषा प्राण)।
9. मन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (मन:प्राण)।
10. जीवन को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (आयुष्य प्राण)।

जीवन की सारी प्रवृत्तियाँ इस प्राण-ऊर्जा के द्वारा सक्रिय होती हैं। इसके आधार पर जीवन और मृत्यु की परिभाषा बनती है। प्राणशक्ति का होना जीवन है और प्राणशक्ति का चुक जाना मृत्यु।

10.8 जीव और काय

शरीर-रचना के आधार पर जीव छह भागों में विभाजित होता है—1. पृथ्वीकाय 2. अप्काय 3. तैजसकाय 4. वायुकाय 5. वनस्पतिकाय 6. त्रसकाय।

साधारणतया त्रसकाय को गतिशीलता के आधार पर जीव माना जाता है। वनस्पति को भी कुछ लोग जीव मानते हैं। जैनदर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना गया है। जैनदर्शन का सिद्धान्त है कि दृश्य या स्थूल जगत जीवों के द्वारा निर्मित होता है। जितना दृश्य जगत है वह या तो जीवयुक्त शरीर है या जीवमुक्त शरीर। ऐसा कोई भी तत्त्व दृश्य नहीं है जो जीव के शरीर के रूप में परिणत न हुआ हो।

जीव के इन छह कायों में वनस्पतिकाय जीवों का अक्षय कोष है। केवल इसी काय में अनन्त जीव होते हैं। विकास की प्रक्रिया के अनुसार जीव वनस्पति से निकलकर आगे की यात्रा तय करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

10.9 दोहरा व्यक्तित्व

मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की दो परतें होती हैं। कभी एक प्रकार का व्यक्तित्व काम करता है तो कभी दूसरे प्रकार का। जैनदर्शन के अनुसार जिसमें पूर्ण अनावरण की अवस्था विकसित नहीं है उसमें दोहरा व्यक्तित्व होता है। इसका हेतु यह है कि जीव में कर्म-पुद्गल की सक्रियता और निष्क्रियता दोनों विद्यमान रहती हैं। कर्मशास्त्र की भाषा में कर्म की सक्रियता को औदयिक व्यक्तित्व और उसकी निष्क्रियता को क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है।

औदयिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं: 1. जानने और देखने की अक्षमता। 2. मूर्च्छा का अनुभव—आवेग, भय और काम-वासना का अनुभव। 3. सामर्थ्यहीनता का अनुभव। 4. सुख-दु:ख का अनुभव। 5. उच्चता-नीचता का अनुभव। 6. शुभ-अशुभ का अनुभव। 7. जीवन-मृत्यु का अनुभव।

क्षायोपशमिक व्यक्तित्व के लक्षण हैं—1. जानने-देखने की क्षमता का अनुभव। 2. अमूर्च्छा का अनुभव—आवेग-शून्यता, अभय, काम-वासना-मुक्ति और आनन्द का अनुभव। सामर्थ्य का अनुभव। 4. संवेदन-मुक्ति का अनुभव।

व्यक्तित्व की ये दोनों परतें हर व्यक्ति के मस्तिष्क में होती हैं। अपने चैतन्यमय स्वरूप के प्रति जागरूकता के क्षण में क्षायोपशमिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है। मूर्च्छा के क्षण मे औदयिक व्यक्तित्व की परत सक्रिय होती है। इन दोनों के प्रभाव से दोहरा व्यक्तित्व बनता है। यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है, किन्तु अनावरण की अवस्था के विकास से पूर्व उसका यही रूप उपलब्ध होता है। चैतन्य का अनावरण होने पर यह दोहरा व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है। इसे क्षायिक व्यक्तित्व कहते हैं।

10.10 सशरीर और अशरीर

जीव संसार में रहता है। वह शरीर में रहता है और उसका फैलाव भी शरीर जितना ही होता है, इसलिए उसे (जीव को) देह परिमाण कहा गया है। वह न तो शरीर के किसी हिस्से में केन्द्रित है और न पूरे लोक में व्याप्त है, किन्तु वह पूरे शरीर (नाड़ी-संस्थान) में व्याप्त है। मुक्ति के प्रथम क्षण में वह अशरीर हो जाता है। उस अवस्था में भी वह पूरे लोक में व्याप्त नहीं होता, किन्तु जिस शरीर से मुक्त होता है उसी के त्रिभागहीन क्षेत्र में वह व्याप्त हो जाता है।

यह अशरीर अवस्था जीव की सर्वथा पुद्गलमुक्त या अचैतन्य-वियुक्त अवस्था है। इस अवस्था के उपलब्ध होने पर जीव फिर कभी पुद्गल से युक्त नहीं होता, उससे प्रभावित होता।

अब तक हमने आत्मा सामान्य और बद्ध आत्मा के स्वरूप को समझा। अब हम मुक्तात्मा के स्वरूप को समझेंगे।

10.11 मुक्त आत्मा

मुक्त आत्मा के स्वरूप को बताते हुए आचारांग में कहा गया है—'सव्वे सरा णियट्टंति' जहां से सारे स्वर लौट आते हैं। उपनिषद में इसका संवादी सूत्र है—'यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। मन और वाणी से अतीत है ब्रह्म। मन और वाणी की पहुंच से परे है आत्मा।

आत्मा न शब्द गम्य है, न तर्क गम्य है, न मति गम्य है। यह आचारांग का अज्ञेयवाद है।

जगत में दो प्रकार के तत्त्व होते हैं, हेतु गम्य और अहेतु गम्य। आत्मा अहेतुगम्य है, अज्ञेय है। वह न शब्द के द्वारा ज्ञेय है, न तर्क के द्वारा ज्ञेय है और न मति के द्वारा ज्ञेय है।

मुक्त आत्मा के स्वरूप की विस्तृत मीमांसा करते हुए भगवान महावीर ने कहा—अकेला और राग-द्वेष-रहित। प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम अर्थ अधिक संगत है। 'पुढो सत्ता' दशवैकालिक सूत्र का यह कथन इसी तथ्य की पुष्टि करता है। प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है, पृथक् अस्तित्व है। वेदान्त के अनुसार सब आत्माएं स्वतंत्र नहीं हैं। वे ब्रह्म में विलीन हो जाती हैं। जैन और सांख्य दर्शन आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। 'ओज' शब्द आत्मा की स्वतंत्रता का द्योतक है।

मुक्त आत्मा का प्रतिष्ठान नहीं होता, आधार नहीं होता है। आत्मा का प्रतिष्ठान है—शरीर। मुक्त आत्मा शरीर रहित होती है। मुक्त आत्मा केवल ज्ञाता होती है।

मुक्त आत्मा के लक्षण को एक अलग कोण से भी व्याख्यायित किया गया है। निषेधात्मक दृष्टि से उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। उपनिषद में भी नेतिवाद प्रचलित है। नेतिवाद का अर्थ है न इति, न इति। आत्मा यह भी नहीं है वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी नहीं है। 'अथात आदेशो नेति नेति' यह बृहदारण्यक उपनिषद का प्रसिद्ध सूत्र है। ब्रह्म की तरह आत्मा का स्वरूप भी नेतिवाद की भाषा में बतलाया गया है।

आत्मा दीर्घ—लम्बा नहीं है। ह्रस्व नहीं है, वृत्त—गोल नहीं है। परिमण्डल—वलयाकार नहीं है, त्रिकोण, चतुष्कोण भी नहीं है। उसका कोई संस्थान नहीं है, आकार नहीं है।

वह न कृष्ण है, न नील है, न रक्त है, न पीत है न श्वेत है। वह न सुगंध है, न दुर्गन्ध है। वह न रिक्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है, न मधुर है। वह न कठोर है, न मृदु है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है।

वह वर्णातीत, रसातीत, गंधातीत और स्पर्शातीत है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और संस्थान—ये पुद्गल के लक्षण हैं। आत्मा पुद्गल नहीं है। जो दृश्य जगत है, वह पुद्गल है। आत्मा अदृश्य है। जो कुछ भी हमें दिखाई देता है, वह पुद्गल है। मुक्त आत्मा पुद्गल से सर्वथा पृथक् है। इस निरूपण के द्वारा अदृश्यवाद को दृश्यवाद का निषेध कर प्रस्थापित किया गया है।

मुक्त आत्मा शरीर युक्त नहीं है। वह जन्मधर्मा नहीं है। उसके किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। संसारी आत्मा के बंध निरन्तर होता रहता है, कर्म पुद्गल चिपकते रहते हैं। मुक्त आत्मा विशुद्ध और निर्लेप होती है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक।

यह भी नहीं है, यह भी नहीं है, आखिर मुक्त आत्मा है क्या? उसका धर्म क्या है? स्वरूप क्या है? उसका कार्य क्या है? इस संदर्भ में उसकी विधायक परिभाषा करते हुए कहा गया—मुक्त आत्मा केवल ज्ञाता है। वह सर्वत: चैतन्यमय है।

ज्ञातृभाव और चैतन्य दोनों अदृश्य हैं, उन्हें कैसे देखा जा सकता है? आत्मा का निषेधात्मक स्वरूप भी अज्ञेय है, विधायक स्वरूप भी ज्ञेय नहीं है। फिर उसे जानने का साधन क्या है?

इस प्रश्न को समाहित करने के लिए आयारो में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है। 'उवमा ण विज्जई' आत्मा को बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। उपमा के बिना कैसे उसे बताया जा सकता है?

न्यायशास्त्र में दो प्रकार की व्याप्तियां हैं—बहिर्व्याप्ति, अंतर्व्याप्ति। पक्षीकृत (प्रस्तावित) विषय में ही साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, वह अंतर्व्याप्ति होती है। आत्मा में चैतन्य गुण है इसलिए वह है। इसकी व्याप्ति है—'जहां जहां चैतन्य है, वहां वहां आत्मा है।' यह व्याप्ति समग्र विषय को अपने आपमें समेट लेती है। इसका कोई अन्य उदाहरण नहीं है इसलिए इसके लिए कोई दृष्टान्त नहीं हो सकता।

बहिर्व्याप्ति में विषय के सिवाय भी साधन के साथ साध्य की व्याप्ति मिलती है। जैसे—'जहां जहां धूम है, वहां वहां अग्नि है' इसका दृष्टान्त बन सकता है रसोई घर। वे सारे स्थान इसे सिद्ध करने में सहायक हैं जहां अग्नि जलती है।

आकाश अनन्त है। वह अपने विषय को स्वयं में समग्रता से समेटे हुए है। उसके समान कोई तत्त्व नहीं है जिससे उसे बताया जा सके। आकाश की भांति आत्मा को किसी भी उपमा से उपमित नहीं किया जा सकता। आत्मा एक अमूर्त सत्ता है इसलिए वह दृष्टि का विषय भी नहीं है।

आत्मा अपद है। उसके लिए कोई पद नहीं है। 'अपयस्स पयं णत्थि' यह नियम सब पदार्थों पर लागू होता है। इसका कोई अपवाद नहीं है। इससे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध फलित होता है।

दर्शनशास्त्र में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विषय बहुत विवादास्पद रहा है। बौद्धदर्शन शब्द और अर्थ में एकान्त भेद स्वीकार करता है। वेदान्त प्रणव-ओंकार को ईश्वर का वाचक शब्द मानता है। उसके अनुसार ओंकार प्रथम शब्द है, उससे ही नाद का विस्तार हुआ है। शब्द-ब्रह्म की मान्यता का इसी परिप्रेक्ष्य में जन्म हुआ है।

जैनदर्शन शब्द और अर्थ में भेदाभेद मानता है। आत्मा पदातीत है। उसके लिए कोई पद नहीं है। जैनदर्शन कहता है—आत्मा है पर यह आत्मा शब्द भी आरोपित है। प्रत्येक पदार्थ शब्दातीत है। शब्द आत्मा या किसी भी पदार्थ का पर्याय नहीं हो सकता। आत्मा है, यह है, वह है—ये सब हमारे द्वारा आरोपित हैं।

जैनदर्शन इस बात को भी स्वीकार नहीं करता है कि सृष्टि का सारा विस्तार शब्द से हुआ है। आत्मा के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। वह अज्ञेय, अदृश्य और अरूपी सत्ता है। शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श कोई भी उसका पर्याय नहीं है, वाचक नहीं है, स्वरूप नहीं है। वह निरुपमेय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अब प्रश्न है कि असत् आत्मसत्ता को जानने का कोई सर्वमान्य आधार हो सकता है या नहीं? जहां तक भारतीय दर्शनों का प्रश्न है वहां चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों में एक सिद्धान्त को जो आत्मा के अस्तित्व का साधक है, उसे समान रूप से मान्यता प्राप्त हुई है और वह है पुनर्जन्म का सिद्धान्त। आत्मा के विषय में वह नित्य है अथवा अनित्य, क्षणों की सन्तति है इत्यादि मतभेद अवश्य पाया जाता है। किन्तु पुनर्जन्म के विषय में सर्वसम्मति है। स्थाई आत्म तत्त्व को न मानने वाले भी पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं और स्थाई मानने वाले भी। जैनदर्शन में पुनर्जन्म और उसके द्वारा आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की सिद्धि का प्रयत्न आगमयुग से दृष्टिगोचर होता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने वैज्ञानिक तथ्यों का आगमयुगीन चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन पुनर्जन्म के संदर्भ में आत्मतत्त्व की सिद्धि इस प्रकार की है—

10.12 आत्मवाद बनाम पुनर्जन्म

दर्शन का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार। सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा है। 'जो आत्मा को जान लेता है, वह सबको जान लेता है।' 'दर्शनं स्वात्मनिश्चिति' अपनी आत्मा का जो निश्चय है, वही दर्शन है।

दर्शन की आत्मा है अनुभव और उसकी प्रणाली युक्ति पर आधारित होती है। दर्शन तत्त्व के गुणों से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसे तत्त्व का विज्ञान कहा जाना चाहिए। युक्ति विचार का विज्ञान है। दर्शन के क्षेत्र में तार्किक प्रणाली द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि तथ्यों की व्याख्या, आलोचना, स्पष्टीकरण या परीक्षा की जाती है।

अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि मैं कहां से आया हूं? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं? मैं कौन हूं? यहां से फिर कहां जाऊंगा?

भारतीय दर्शनों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है। इस विषय में मुख्यत: तीन मत प्रस्तुत हुए हैं—

1. आत्मा है, पुनर्जन्म है।
2. आत्मा-परमात्मा है, पुनर्जन्म नहीं है।
3. आत्मा है, परमात्मा और पुनर्जन्म नहीं है।

आत्मवादी/पुनर्जन्मवादी परम्परा ने प्रथम विकल्प को मान्यता दी है। जैनदर्शन आत्मा और पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा की त्रैकालिक सत्ता है।

ईसाई, इस्लाम आदि दर्शन द्वितीय विकल्प का समर्थन करते हैं। वे आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु पुनर्जन्म को नहीं मानते।

चार्वाक आदि दर्शन तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं। वे आत्मा को वर्तमानिक मानते हैं पर परमात्मा एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शरीर ही आत्मा है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने पर भी प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जीव कहां से आया है? कौन था? उसे अपने पुनर्जन्म का ज्ञान नहीं है। भगवान् महावीर ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा—'अनेक मनुष्यों को यह संज्ञा (स्मृति) नहीं होती कि वे किस दिशा से आये हैं।'

भगवान् महावीर ने कहा—'जैसे पूर्वजन्म का संज्ञान नहीं होता वैसे ही अनेक व्यक्ति पुनर्जन्म को नहीं जानते। उन्हें यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक है, पुनर्जन्म लेने वाली है। यहां से च्यूत होकर मैं कहां जाऊंगा।

आत्मवाद के ये चार मूल आधार हैं—

1. मैं कौन हूं?
2. मैं कहां से आया हूं?
3. क्या मेरी आत्मा पुनर्भवी है?
4. मैं कहां जाऊंगा?

10.13 विज्ञान में आत्मा और पुनर्जन्म के पोषक तत्त्व

आत्मा थी या नहीं? आत्मा होगी या नहीं? क्या आत्मा का अस्तित्व है? आत्मा क्या है? क्या आत्मा और पदार्थ एक है? आत्मा का पदार्थ से क्या सम्बन्ध है—इन प्रश्नों पर आज के वैज्ञानिकों द्वारा की गयी खोजें भी महत्त्वपूर्ण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की तीन अवस्थायें मानी जाती थीं—ठोस, द्रव और गैस। उसके बाद चौथी अवस्था 'प्लाज्मा' को भी स्वीकार किया गया। फिर पांचवीं अवस्था और खोजी गई—प्रोटोप्लाज्म। यानि जैव प्लाज्म। प्रोटोप्लाज्म की तुलना प्राण से की जा सकती है। हमारी जो प्राण शक्ति है, वही प्रोटोप्लाज्म है।

सोवियत संघ के भौतिकी शास्त्रवेत्ता श्री वी.सी. ग्रिश्चेको का कहना है—'जैव प्लाज्म में स्वतंत्र इलेक्ट्रोन और स्वतंत्र प्रोटोन होते हैं, जिनका अस्तित्व स्वतंत्र होता है और जिनका नाभिक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। इनकी गति बहुत तीव्र होती है और दूसरे जीवधारियों में शक्ति संवहन करने में यह सक्षम होता है। यह मानव की सुषुम्ना नाड़ी में एकत्रित रहता है। यह टैलीपैथी मनोवैज्ञानिक और मनोगति की प्रक्रिया से मिलता जुलता है।'

सोवियत वैज्ञानिकों ने बायोप्लाज्मा से सम्बन्धित निम्न निष्कर्ष निकाले हैं—

1. प्लाज्मा का मूल स्थान मस्तिष्क है और सबसे सघन अवस्था में यह यहीं पाया जाता है।
2. बायोप्लाज्मा की सर्वाधिक गतिविधियां सुषुम्ना नाड़ी और स्नायविक कोशिकाओं में रहती है। सुषुम्ना नाड़ी में यह अधिक क्रियाशील रहता है।
3. स्नायुओं के केन्द्र स्थान में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है।

इन निष्कर्षों के आधार पर वे दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि बायोप्लाज्मा का अस्तित्व है और यह भारतीय दर्शन के सूक्ष्म शरीर से बहुत साम्य रखता है।

शरीर की नश्वरता एवं प्रोटोप्लाज्मा की अमरता को भी वैज्ञानिक जगत में स्वीकृति मिल चुकी है। उनका कहना है—हमारा सार शरीर कोशिकाओं द्वारा बना है। प्रत्येक कोशिका में 'प्रोटोप्लाज्म' नामक एक तरल एवं चिकना पदार्थ होता है। इस प्रोटोप्लाज्म के द्वारा दूषित वायु बाहर आती है और ताजी हवा अंदर जाती है। हमारी सांस के साथ करोड़ों की संख्या में ये प्रोटो-प्लाज्म कण विद्यमान रहते हैं। इन प्रोटोप्लाज्म कणों में 'न्यूक्लीयस' नामक अन्य पदार्थ होता है, जो मानव शरीर को जीवन शक्ति प्रदान करता है। कोशिकाओं को पुष्ट करने में सहायक होता है। जब न्यूक्लीयस पदार्थ क्षीण होता है तब प्रोटोप्लाज्म कण क्षीण होने लग जाते हैं। ये कण क्षीण होते-होते अकस्मात खत्म हो जाते हैं और इनसे मूल चेतना गायब हो जाती है।

मृत्यु के पश्चात् प्रोटोप्लाज्म शरीर से अलग होकर वायुमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है। वहां से यह खेतों-खलिहानों के माध्यम से वनस्पति में पहुंचता है। उसके बाद फल-फूल, अनाज आदि में प्रविष्ट होकर भोजन के साथ मनुष्य के शरीर में चला जाता है। ये ही प्रोटोप्लाज्म कण 'जीन्स' में परिवर्तित होकर नए शिशु के साथ पुन: जन्म लेते हैं।

विज्ञान सम्बन्धी खोजों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि व्यक्ति का पुनर्जन्म संभव है। प्रयोगशालाओं में किए गए अनेक प्रयोगों के पश्चात् वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मरणोपरान्त कोई ऐसा सूक्ष्म तत्त्व रह जाता है, जो इच्छानुसार पुन: किसी भी शरीर में प्रवेश कर एक नए शरीर को जन्म दे सकता है।

लंदन के प्रसिद्ध डॉ. डब्ल्यू.जे. किल्लर ने अपनी पुस्तक 'दी ह्यूमन एट्मास्फियर' में ऐसे अनेक प्रयोगों का वर्णन किया है, जो उन्होंने मरणान्त मरीजों की जांच करते समय किए थे। उनका निष्कर्ष है—'मानव देह में एक प्रकाशपुंज का अस्तित्व अवश्य रहता है जो मृत्यु के बाद यथावत रहता है।'

सोवियत वैज्ञानिकों ने पुनर्जन्म की स्वीकृति को महत्त्व प्रदान करते हुए आत्मविश्वास भरे स्वरों में कहा—'जीवधारियों में प्रकाश-पुंज कोई सूक्ष्म-शक्ति या कोई अदृश्य शरीर भौतिक शरीर को आवृत किए रहता है। इसका प्रमाण हमको मिल गया है।' इस प्रकाश पुंज को 'इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप' द्वारा देखा गया। इसके द्वारा उन्होंने मरणान्त जीवधारी पर ऐसी चीज डिस्चार्ज होते देखी है, जिसे पहले क्लेयर वोमेटस ही देख पाते थे। जीवित शरीर में ही उनको उसी शरीर की प्रतिकृति देखने को मिली है। यही प्रतिकृति विद्युत चुम्बकीय क्षेत्रों में समा जाती है। इस अदृश्य शरीर की एक विशिष्ट संरचना है।

आत्मा से सम्बद्ध खोज एवं प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में अभी जारी हैं। अब तक आत्मा के संदर्भ में विज्ञान द्वारा स्वीकृत महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं—

1. पूर्वजन्म है, पुनर्जन्म है।
2. प्रोटोप्लाज्म ही आत्मा है और वह नष्ट नहीं होता।
3. भौतिक शरीर के भीतर कोई अदृश्य शरीर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म एवं आत्मा की अमरता की स्वीकृति से आत्मवाद के प्रमाणित होने की संभावनायें बढ़ती हैं।

10.14 जैनदर्शन और विज्ञान

वैज्ञानिकों ने प्रोटोप्लाज्म को आत्मा माना है। उसके उन्होंने जो लक्षण बतलाए हैं उसके आधार पर उसे जैनदर्शन का सूक्ष्म शरीर कहा जा सकता है, आत्मा नहीं। सूक्ष्म शरीर पुनः जन्म लेता है। प्रोटोप्लाज्म भी पुनः 'जीन्स' में परिवर्तित होकर शरीर धारण करता है। सूक्ष्म शरीर न द्रव है, न गैस है, न ठोस है। प्रोटोप्लाज्म भी इनसे भिन्न हैं। सूक्ष्म शरीर चतुःस्पर्शी होता है इसे आंखों के द्वारा नहीं देखा जा सकता। प्रोटोप्लाज्म भी अत्यन्त सूक्ष्म कण है। अवधिज्ञानी, अतीन्द्रियज्ञानी अपने आंतरिक उपकरणों को जागृत कर सूक्ष्म शरीर को देखते हैं और वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा प्रोटोप्लाज्म को देखते हैं। भौतिक शरीर के भीतर जो अदृश्य शरीर है, जिसे यंत्रों द्वारा देखा गया है वह भी प्रोटोप्लाज्म या सूक्ष्म शरीर है। वैज्ञानिक भारतीय दर्शन में वर्णित आत्मा के स्वरूप को अब तक नहीं पकड़ पाए हैं।

10.15 पूर्वजन्म को जानने के साधन

भगवान् महावीर ने पूर्वजन्म को जानने के तीन साधन बतलाए हैं—

1. सह सम्मुइयाए—स्व-स्मृति। प्राकृत में सह शब्द के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और सह यानी साथ। यहाँ 'स्व' शब्द इष्ट है। व्यक्ति स्वयं को अपने अतीत के जीवन का स्मरण होने लगे।
2. पर वागरणेणं—पर व्याकरण के द्वारा। प्रश्नोत्तर यानी जिज्ञासा और समाधान के द्वारा पूर्वजन्म को जाना जा सकता है। पर व्याकरण का अर्थ प्रत्यक्ष द्वारा निरूपित भी किया गया है। किन्तु यह अर्थ ज्यादा युक्ति-संगत नहीं है।
3. अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा—न जिज्ञासा, न स्वस्मृति किन्तु दूसरों के पास सुनकर जानना। जैसे—किसी व्यक्ति ने कहा—पूर्वजन्म में अमुक व्यक्ति वह था। इस बात को सुनकर पूर्वजन्म का बोध हो जाता है।

स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है। वह किसी निमित्त से जाग जाती है तो जाति-स्मृति कहलाती है। विज्ञान एवं परामनोविज्ञान की मान्यता है कि शिशु के स्मृति-पटल पर प्रोटोप्लाज्म कण जागृत होने पर स्मृति जाग जाती है, पूर्वजन्म की घटनाएं याद आने लग जाती हैं। जैनदर्शन सूक्ष्म शरीर की जागृति से स्मृति जागरण स्वीकार करता है।

ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता तथा शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। कोई गहरी चोट होती है, लेश्या विशुद्ध हो जाती है। मनुष्य खूब गहरे चिन्तन में चला जाता है तो उसके संस्कार जागृत हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा—जो सब दिशाओं में अनुसंचरण करता है, जो सब दिशाओं, अनुदिशाओं से आया है 'सोऽहं' वह मैं हूं। यहां अपने अस्तित्व का स्वीकार है। मनुष्य जन्म लेता है, मरता है और पुनः जन्म लेता है। वह मैं हूं—यह पुनर्जन्म की अभिव्यक्ति है। यह प्रत्यभिज्ञा अतीत और वर्तमान का संकलन है। प्रत्यभिज्ञा में अनुभव और स्मृति दोनों है। इससे यह फलित होता है कि मेरा अस्तित्व पहले भी था और वर्तमान में भी है। 'सोऽहं' यानि आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व का स्वीकार, पूर्वजन्म की सत्ता का साक्षात्कार।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ तैजस शरीर एवं कार्मण शरीर निरन्तर रहते हैं। ये दोनों शरीर अनादि हैं, कभी नहीं मरते। 'एते चान्तरालगता' ये निरन्तर साथ रहने वाले हैं। प्रोटोप्लाज्म की खोज इस सत्य की पुष्टि करती है।

प्रश्न होता है जो बच्चा पैदा होता है, जीव कहां से आता है? कहीं से नहीं आता। प्रत्येक आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर और चेतना साथ आते हैं। सूक्ष्म-शरीर चेतना का संवाहक है। वह शरीर योग्य पुद्गलों को स्वतः खींच लेता है।

10.11 सारांश-इस समग्र चर्चा का निष्कर्ष है—आत्मा त्रैकालिक है, शाश्वत है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म, उनकी अभिव्यक्ति के दो कोण हैं। वैज्ञानिकों द्वारा खोजा गया 'प्रोटोप्लाज्म' नामक तत्त्व भारतीय जैनदर्शन में वर्णित सूक्ष्म शरीर है, आत्मा नहीं।

सूक्ष्म शरीर संसारी आत्मा के साथ निरन्तर रहने वाला है और वह नए शरीर के निर्माण का मूल बिन्दु है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आत्मा के स्वरूप पर सविस्तर प्रकाश डालें।

अथवा

'पुनर्जन्म से आत्मा की सिद्धि' इस विषय पर दार्शनिक और वैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. संसारी और मुक्त आत्मा के अंतर को स्पष्ट करें।
2. अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति को सोदाहरण स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक शब्द में उत्तर दें:

1. मुक्त आत्मा के विषय में आचारांग और उपनिषद् की विचार-साम्यता के आधारभूत सूत्र कौन से हैं?
2. 'ओज' शब्द के कौन से दो अर्थ हैं?
3. शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है?
4. आत्मा और पुनर्जन्म को लेकर कौन से तीन मत चिन्तन जगत में दृष्टिगोचर होते हैं?
5. आत्मवाद के आधार क्या हैं?
6. वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की चौथी अवस्था किस रूप में सामने आई है?
7. वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ की पांचवी अवस्था कौन-सी है?
8. जैव प्लाज्म शरीर के किस हिस्से में रहता है?
9. बायोप्लाज्मा की सर्वाधिक गतिविधियां शरीर के किन भागों में देखी जाती हैं?
10. 'दी ह्यूमन एट्मोस्फियर' पुस्तक किसके द्वारा लिखी गई है?

संदर्भ पुस्तक

1. जैनदर्शन के मूल सूत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 11 कारणकार्य सिद्धान्त

संरचना

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 कारणकार्यवाद

11.3 कारण कार्य

11.4 विविध विचार

11.5 कारण कार्य जानने की पद्धति

11.6 परिणमन के हेतु

11.7 सारांश

11.8 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

कारणकार्य सिद्धान्त वस्तु के अंतर्गत होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया का बोध कराता है। परिवर्तन के क्रम में एक ही वस्तु की पूर्व अवस्था कारण और उत्तर अवस्था कार्य कहलाती है। यह परिवर्तन भी निश्चित नियमों के तहत होता है।

11.1 उद्देश्य–इस पाठ में कारण–कार्य सिद्धान्त (Cause-effect theory) के विषय में जैन चिंतन की सूक्ष्मता को प्रस्तुत किया गया है।

11.2 कारणकार्यवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्यायशास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नहीं बताता किंतु असत् से सत् बनता है या नहीं—इसकी मीमांसा करता है। इसी का नाम कारणकार्यवाद है।

वस्तु का जैसा स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार-दृष्टि को काम में लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए। निश्चय-दृष्टि के अनुसार उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहां तक आ जाते हैं कि वह परमाणुओं से बनी है। ये दोनों दृष्टियां मिल सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन दर्शन की भाषा में ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती हैं। बौद्ध दर्शन में इन्हें लोक-संवृत्ति-सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपंच को व्यवहार सत्य माना है। प्रो. आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नहीं सकते। (We can only know the relative truth but absolute truth is known only to the universal observer, Mysterious universe, P. 138.)

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार-दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय-दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है। जीव और शिव में कोई भेद नहीं। व्यवहार-दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।

जीवः शिवः शिवो जीवो, नान्तरं शिवजीवयोः।
कर्मबद्धो भवेज्जीवः, कर्म-मुक्तः सदा शिवः।।

11.3 कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ में पल-पल परिणमन (Change) होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहले वाला कारण और पीछे वाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते हैं। किंतु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति काल में ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता है और कारण का नाश। कारण ही अपना रूप त्यागकर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नही बनता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और असत् सत् नहीं बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नहीं। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी को करेगा, किसी दूसरे को नहीं। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से कारण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है। एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानि बहु-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नहीं हो सकता।

11.4 विविध विचार

कार्य-कारणवाद के बारे में भारतीय दर्शन की अनेक धाराएं हैं—

1. न्याय-वैशेषिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारणवाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है।

2. सांख्य कार्य और कारण दोनों को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचारधारा 'परिणामवाद या सत् कार्यवाद' कहलाती है।

3. वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद' कहा जाता है।

4. बौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पात' कहा जाता है।

बौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत् कारण से असत् कार्य मानते हैं। उनके मतानुसार वास्तव में कारण और कार्य एकरूप हों, तब दोनों सत् होते हैं। कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तब कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

1. कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नहीं होते। कारण कार्य का ही पूर्व रूप है और कार्य कारण का उत्तर रूप। असत् कार्यवाद के अनुसार कार्य-कारण एक ही सत्य के दो पहलु न होकर दोनों स्वतंत्र बन जाते हैं। इसलिए यह युक्तिसंगत नहीं।

2. सत्-कार्यवाद भी एकांगी है। कार्य और कारण में अभेद है सही किंतु वे सर्वथा एक नहीं है। पूर्व और उत्तर स्थिति में पूर्ण सामंजस्य नहीं होता।

3. विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध दही के रूप में परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे बिना मिथ्या प्रतीति का कारण बनता है। रस्सी अपने रूप का त्याग किये बिना ही मिथ्या प्रतीति का कारण बनती है। तत्त्वचिंतन में 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थिति नहीं करता। रस्सी में सांप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नहीं, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल में एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किंतु सर्वदा सब व्यक्तियों को मिथ्या प्रतीति नहीं होती।

4. असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। कार्य किसी शून्य से उत्पन्न नहीं होता। सर्वथा अभूतपूर्व और सर्वथा नया भी उत्पन्न नहीं होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा में कार्य का कोई रूप बनता ही नहीं।

न्याय-वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं। सांख्य द्वैतपरक अभेद, वेदान्त अद्वैतपरक अभेद, बौद्ध कार्य-कारण का भिन्न काल स्वीकार करते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामि- नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक हैं—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप में परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भेद नहीं मानती। व्यवहार-दृष्टि में कार्य और कारण भिन्न हैं—दो हैं। द्रव्य-दृष्टि से जैन सत्-कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत्-कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा ''भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नहीं होता।'' पर्याय-दृष्टि की अपेक्षा—''सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है।''

11.5 कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके बिना जो नहीं होता, वह व्यतिरेक है। ये दोनों जहां मिलें, वहां कार्य-कारण-भाव जाना जाता है। उदाहरण के लिए चिंतन के होने पर मन का पाया जाना अन्वय है और मन के अभाव में चिंतन का अभाव व्यतिरेक है।

11.6 परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। 'प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है—यह तर्क-नियम सामान्यत: सही है किंतु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष परिवर्तन।

2. पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम—'भगवन्! क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप में परिणत होता है? नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है?'

भगवान्—'हां, गौतम! होता है।'

गौतम—'भगवन्! क्या स्वभाव से अस्तित्व अस्तित्वरूप में परिणत होता है या प्रयोग प्रयत्न से अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है? क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है?'

वैभाविक परिवर्तन प्राय: पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिंडरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व में परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व तन्तु-समुदाय जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपड़े के रूप में परिणत होता है। ये दोनों परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व जल पदार्थ स्वयं मेघ के रूप में परिवर्तित होता है, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन में कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ में जो अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह परनिमित्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिंड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरतीं कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकतीं। सांसारिक आत्मा और पुद्गल—इन दो द्रव्यों में रूपान्तर दशाएं पैदा होती हैं। शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में निरपेक्षवृत्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा में भी यही होता है। ऐसा कहना चाहिए कि स्व-निमित्त परिवर्तन सब में होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप—रूपान्तरण और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तरण होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नहीं टूटती।

द्रव्यानुयोगतर्कणा में इसे इस प्रकार कहा गया है—

नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तरविगोचर:।
अर्थांतरगतिश्चैव, द्वितीय: परिकीर्तित:।
तत्रान्धतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य संक्रम:।
अणोरण्वंतरप्राप्तो, ह्यर्थांतरगमश्च स:।।

तैजस परमाणु तिमिर के रूप में परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है, उससे आगे नहीं। तैजस परमाणु असंख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किंतु चैतन्य नहीं पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न-गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो समान वस्तुएं अलग-अलग थीं, तब तक वे दो थीं। दोनों मिलती हैं, तब एक बन जाती हैं। यह भी अपनी मर्यादा में ही होता है। केवल चैतन्यमय या केवल अचैतन्यमय पदार्थ हैं नहीं, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड़—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड़ और जड़ चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेष स्वरूप है वह कभी नष्ट नहीं होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है। मार्क्स के धर्म-परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त में कार्य-कारण का निश्चित नियम नहीं है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नहीं करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास में भारी रुकावट मानता है। सच तो यह है कि 'जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—वाली धारणा का हमें लगभग सब जगह सामना करना पड़ता है और इससे व्यक्तियों और समाज के विकास में भारी रुकावट पड़ती है।''

किंतु यह आशंका कार्य-कारण के एकांगी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है। जो था, है और वैसा ही रहेगा—यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में पदार्थ परिणाम-स्वभाव है। पूर्ववर्ती और परवर्ती में सम्बन्ध हुए बिना कार्य-कारण की स्थिति ही नहीं बनती। परवर्ती पूर्ववर्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्ती परवर्ती में अपना संस्कार छोड़ जाता है। पानी जब गर्म होने लगता है तो हमको पहले पानी के रूप में ही प्रतीत होता है। परन्तु जब ताप-वृद्धि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की मात्रा सीमा-विशेष तक पहुंच जाती है तो पानी का स्थान भाप ले लेती है। इसी प्रकार के क्रमिक परिवर्तन को .... मात्रा-भेद से लिंग-भेद कहते हैं।दूसरी अवस्था पहली अवस्था की प्रतियोगी—उससे विपरीत होती है परन्तु परिवर्तन-क्रम वहीं नहीं रुक सकता, वह और आगे बढ़ता है और मात्रा-भेद से लिंग-भेद होकर तीसरी अवस्था का उदय होता है, जो दूसरी की प्रतियोगी होती है। इस प्रकार पहली की प्रतियोगी की प्रतियोगी होती है। इसको यों कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत् प्रतिषेध, प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस क्रम से अवस्था-परिणाम का प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधक में अपने संस्कार छोड़ जाती है।

11.7 सारांश- इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती में प्रत्येक पूर्ववर्ती विद्यमान है। धर्म-परिवर्तन की इस प्रक्रिया को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं। यह शब्दान्तर से 'परिणामी नित्यत्व' का स्वीकार है।

11.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. कारणकार्यवाद को विविध संदर्भों में स्पष्ट करें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कार्य-कारणवाद के विषय भारतीय चिंतन को स्पष्ट करें।
2. डार्विन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया और आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को अपने शब्दों में स्पष्ट करें।

अथवा

अन्य दर्शनें में मान्य कारणकार्य सिद्धान्त की जैनदृष्टि से समीक्षा करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

दो पंक्तियों में उत्तर दें—

1. कारणकार्यवाद क्या है?
2. निश्चय और व्यवहार दृष्टि में कौन प्रधान होता है?
3. कारण और कार्य किसे कहते हैं?
4. परिणमन के दो पहलू कौन-से हैं?
5. सांख्य, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त एवं बौद्ध के कार्यकारण सिद्धान्त के नाम क्या हैं?
6. कारण-कार्य जानने की पद्धति को क्या कहा जाता है?
7. उत्पाद के दो रूप कौन-से हैं?
8. अन्वय व्यतिरेक को उदाहरण से समझायें

संदर्भ पुस्तक: 1. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई : 12 पंच समवाय

संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 कर्मवाद
12.2.1 कर्मवाद और इच्छा स्वातंत्र्य
12.3 कालवाद
12.4 स्वभाववाद
12.5 नियतिवाद
12.6 यदृच्छावाद
12.7 भूतवाद
12.8 पुरूषवाद
12.9 दैववाद
12.10 पुरुषार्थवाद
12.11 जैन सिद्धान्त का मन्तव्य
12.12 सारांश
12.13 अभ्यास प्रश्नावली

12.0 प्रस्तावना

जीव-जगत् और जड़-जगत् में जो भी परिवर्तन या विकास और ह्रास होता है उसके पीछे मूल कारण क्या है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। कारण तत्त्व के अन्वेषण में अनेक दार्शनिक मतवादो का जन्म हुआ। इन वादों में कर्मवाद, कालवाद, स्वभाववाद, पुरुषार्थवाद व नियतिवाद मुख्य हैं। ये क्रमशः कर्म, काल, वस्तु-स्वभाव, पुरुषार्थ और नियति को जागतिक विचित्रता का मूल हेतु मानते हैं। जैन इन पांचों तत्त्वों के योग को हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं। जैनदृष्टि से प्रत्येक कार्य में पाचों तत्त्व मुख्य और गौण रूप से कार्य करते हैं। इसे ही पंच-समवाय सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। उपर्युक्त पांच वादों के अलावा भी कुछ वाद अस्तित्व में आये जो कि सृष्टि की विविधता को यादृच्छिक मानते हैं अथवा पंचभूतों को इसका कारण मानते हैं। इन सभी प्रासंगिक वादों की जानकारी हम प्रस्तुत पाठ में प्राप्त करेंगे।

12.1 उद्देश्य-प्रस्तुत पाठ में जागतिक घटनाओं के कारण-तत्त्व पर विचार किया गया है।

12.2 कर्मवाद

भारतीय तत्त्वचिंतन में कर्मसिद्धान्त का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाकों के अतिरिक्त भारत के सभी श्रेणियों के विचारक कर्मसिद्धान्त के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला, विज्ञान आदि पर कर्मसिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सुख-दुःख एवं सांसारिक वैविध्य का कारण ढूंढ़ते हुए भारतीय विचारकों ने कर्म के अद्‌भुत सिद्धान्त का अन्वेषण किया है। भारत के जनसाधारण की यह सामान्य धारणा रही है कि प्राणियों को प्राप्त होने वाला सुख अथवा दुःख स्वकृत कर्मफल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीव अनादिकाल से कर्मवश हो विविध भवों में भ्रमण कर रहा है। जन्म एवं मृत्यु की जड़ कर्म है। जन्म और मरण ही सबसे बड़ा दुःख है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों के साथ परभव में जाता है। जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' का तात्पर्यार्थ यही है। एक प्राणी दूसरे प्राणी के कर्मफल का अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी का कर्म स्वसम्बद्ध होता है, परसम्बद्ध नहीं। कमसिद्धान्त की स्थापना में यद्यपि भारत की सभी दार्शनिक एवं नैतिक शाखाओं ने अपना योगदान दिया है फिर भी जैन परम्परा में इसका जो सुविकसित रूप दृष्टिगोचर होता है वह अन्यत्र अनुपलब्ध ा है। जैन आचार्यों ने जिस ढंग से कर्मसिद्धान्त का सुव्यवस्थित, सुसम्बद्ध एवं सर्वांगपूर्ण निरूपण किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं, अप्राप्य है। कर्मसिद्धान्त जैन विचरधारा एवं आचारपरम्परा का एक अविच्छेद्य अंग है। जैन दर्शन एवं जैन आचार की समस्त महत्त्वपूर्ण मान्यताएं व धारणाएं कर्मसिद्धान्त पर अवलम्बित हैं। कर्मसिद्धान्त के आधारभूत हेतु ये हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. प्रत्येक क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। दूसरे शब्दों मे, कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। इसे कार्य-कारणभाव अथवा कर्म-फलभाव कहते हैं।

2. यदि किसी क्रिया का फल प्राणी के वर्तमान जीवन में प्राप्त नहीं होता तो उसके लिए भविष्यकालीन जीवन अनिवार्य है।

3. कर्म का कर्त्ता एवं भोक्ता स्वतंत्र आत्मतत्त्व निरन्तर एक भव से दूसरे भव में गमन करता रहता है। किसी-न-किसी भव के माध्यम से ही वह एक निश्चित कालमर्यादा में रहता हुआ अपने पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्मों का बन्ध करता है। कर्मों की इस परम्परा को तोड़ना भी उसकी शक्ति के बाहर नहीं है।

4. जन्मजात व्यक्तिभेद कर्मजन्य हैं। व्यक्ति के व्यवहार तथा सुख-दु:ख में जो असामंजस्य अथवा असमानता दृष्टिगोचर होती है वह कर्मजन्य ही है।

5. कर्मबन्ध तथा कर्मभोग का अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। तदतिरिक्त जितने भी हेतु दृष्टिगोचर होते हैं वे सब सहकारी अथवा निमित्तभूत हैं।

12.2.1 कर्मवाद और इच्छा-स्वातंत्र्य

प्राणी अनादिकाल से कर्मपरम्परा मे उलझा हुआ है। पुराने कर्मों का भोग एवं नये कर्मों का बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। प्राणी अपने कृतकर्मों को भोगता जाता है तथा नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणी सर्वथा कर्माधीन है अर्थात् वह कर्मबन्ध को नहीं रोक सकता। यदिप्राणी का प्रत्येक कार्य कर्माधीन ही माना जाएगा तो वह अपनी आत्मशक्ति का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग कैसे कर सकेगा? दूसरे शब्दों में, प्राणी को सर्वथा कर्माधीन मानने पर इच्छा-स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं रह जाता। प्रत्येक क्रिया को कर्ममूलक मानने पर प्राणी का न अपने पर कोई अधिकार रह जाता है, न दूसरों पर। ऐसी दशा मे उसकी समस्त क्रियाएं स्वचालित यंत्र की भांति स्वत: संचालित होती रहेंगी। प्राणी के पुराने कर्म स्वत: अपना फल देते रहेंगे एवं उसकी तत्कालीन निश्चित कर्माधीन परिस्थिति के अनुसार नये कर्म बंधते रहेंगे जो समयानुसार भविष्य मे अपना फल प्रदान करते हुए कर्मपरम्परा को स्वचालित यंत्र की भांति बराबर आगे बढ़ाते रहेंगे। परिणामत: कर्मवाद नियतिवाद अथवा अनिवार्यतावाद मे परिणत हो जाएगा तथा इच्छा-स्वातंत्र्य अथवा स्वतंत्रतावाद[2] का प्राणी के जीवन मे कोई स्थान नही रहेगा। कर्मवाद को नियति वाद अथवा अनिवार्यतावाद नही कह सकते। कर्मवाद का यह तात्पर्य नही कि इच्छा-स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नही। कर्मवाद यह नहीं मानता कि प्राणी जिस प्रकार कर्म का फल भोगने में परतंत्र है, उसी प्रकार कर्म का उपार्जन करने मे भी परतंत्र है। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार प्राणी को अपने किये हुए कर्म का फल किसी-न-किसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है किंतु नवीन कर्म का उपार्जन करने मे वह किसी सीमा तक स्वतंत्र है। कृतकर्म का भोग किये बिना मुक्ति नही हो सकती, यह सत्य है किंतु यह अनिवार्य नही कि प्राणी अमुक समय मे अमुक कर्म ही उपार्जित करे। आंतरिक शक्ति एवं बाह्य परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए प्राणी नये कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। इतना ही नही, वह अमुक सीमा तक पूर्वकृत कर्मों को शीघ्र या देर से भी भोग सकता है अथवा उनमे परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार कर्मवाद मे सीमित इच्छा-स्वातंत्र्य का स्थान अवश्य है, यह मानना पड़ता है। इच्छा-स्वातंत्र्य का अर्थ कोई यह करे कि 'जो चाहे सो करे' तो कर्मवाद मे वैसे स्वातंत्र्य का कोई स्थान नही है। प्राणी अपनी शक्ति एवं बाह्य परिस्थिति की उपेक्षा करके कोई कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार वह परिस्थितियों का दास है, उसी प्रकार उसे अपने पराक्रम की सीमा का भी ध्यान रखना पड़ता है। इतना होते हुए भी वह कर्म करने में सर्वथा परतंत्र नहीं अपितु किसी हद तक स्वतंत्र है। कर्मवाद मे यही इच्छा-स्वातंत्र्य है। इस प्रकार कर्मवाद नियतिवाद और स्वतंत्रतावाद के बीच का सिद्धान्त है — मध्यवाद है।

अन्य वाद – विश्व-वैचित्र्य के कारण की खोज करते हुए कुछ विचारकों ने कर्मवाद के स्थान पर अन्य वादों की स्थापना की है। इन वादो मे प्रमुख ये हैं — कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, पुरुषवाद, दैववाद और पुरुषार्थवाद।

12.3 कालवाद — कालवाद के समर्थकों का कथन है कि विश्व की समस्त वस्तुएं तथा प्राणियों के सुख-दु:ख कालाश्रित हैं। काल ही सब भूतों की सृष्टि करता है तथा उनका संहार करता है। काल ही प्राणियों के समस्त शुभाशुभ परिणामों का जनक है। काल ही प्रजा का संकोच और विस्तार करता है। अथर्ववेद के अनुसार काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया है, काल के आधार पर सूर्य तपता है, काल के ही आधार पर समस्त भूत रहते हैं। काल के ही कारण आंखें देखती हैं, काल ही ईश्वर है, काल प्रजापति का भी पिता है, काल सर्वप्रथम देव है, काल से बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है। महाभारत में भी कहा गया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है कि कर्म अथवा यज्ञयागादि सुख-दु:ख के कारण नहीं हैं। मनुष्य काल द्वारा ही सब कुछ प्राप्त करता है। समस्त कार्यों का काल ही कारण है। शास्त्रवार्तासमुच्चय में कालवाद का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है:किसी प्राणी का मातृगर्भ में प्रवेश करना, बाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवो से सम्पर्क होना आदि घटनाएं काल के अभाव मे नही घट सकती। अत: काल ही सब घटनाओं का कारण है। काल भूतों को परिपक्व अवस्था में पहुंचाता है, काल प्रजा का संहार करता है, काल सबके सोते रहने पर भी जागता है, काल की सीमा का उल्लंघन करना किसी के लिए सम्भव नहीं है। मूंग का पकना अनुकूल काल के बिना शक्य नही होता, चाहे अन्य सामग्री उपस्थिति क्यों न हो। काल के अभाव मे गर्भादि समस्त घटनाएं अस्त-व्यस्त हो जाएंगी। अतएव जगत् की सब घटनाओं का कारण काल ही है।

12.4 स्वभाववाद—स्वभाववादियों का कथन है कि संसार में जो कुछ होता है, स्वभाव के कारण ही होता है। स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण विश्व-वैचित्र्य के निर्माण मे समर्थ नहीं है। बुद्धचरित में स्वभाववाद का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि कांटो का नुकीलापन, पशु-पक्षियों की विचित्रता आदि स्वभाव के कारण ही हैं। किसी भी प्रवृत्ति में इच्छा अथवा प्रयत्न का कोई स्थान नही है। शास्त्रवार्तासमुच्चय मे स्वभाववाद का वर्णन करते हुए बताया गया है कि किसी प्राणी का माता के गर्भ मे प्रविष्ट होना, बाल्यावस्था प्राप्त करना, शुभाशुभ अनुभवों का भोग करना आदि घटनाएं स्वभाव के बिना घटित नहीं हो सकतीं। अत: स्वभाव ही संसार की समस्त घटनाओं का कारण है। जगत् की सब वस्तुएं स्वभाव से ही अपने-अपने स्वरूप में विद्यमान रहती हैं तथा अन्त में नष्ट हो जाती हैं। स्वभाव के बिना मूंग का पकना भी संभव नहीं होता, भले ही काल आदि उपस्थित क्यों न हो। यदि किसी स्वभाव विशेष वाले कारण के अभाव में भी किसी कार्य विशेष की उत्पत्ति संभव मान ली जाये तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। यदि मिट्टी में न घड़ा बनाने का स्वभाव है, न कपड़ा बनाने का तब यह कैसे कहा जा सकता है कि मिट्टी से घट ही उत्पन्न होना चाहिए, पट नहीं? अतएव संसार की सब घटनाओं का कारण स्वभाव ही है।

12.5 नियतिवाद—नियतिवादियों की मान्यता है कि जो होना होता है वही होता है अथवा जो होना होता है वह होता ही है। घटनाओं का अवश्यम्भावित्व पूर्वनिर्धारित है। जगत् की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत अर्थात् निश्चित होती है। किसी के इच्छा-स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं है। वस्तुत: इच्छा-स्वातंत्र्य नाम की कोई चीज ही नहीं है। मनुष्य केवल अपने अज्ञान के कारण ऐसा सोचता है कि मैं भविष्य को बदल सकता हूं। जो कुछ होना होगा वह होगा ही। अनागत अर्थात् भविष्य भी वैसे ही सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनीय है जैसे अतीत। अतएव आशा, भय, चिंता आदि निरर्थक हैं एवं किसी की प्रशंसा करना अथवा किसी पर दोष लगाना भी व्यर्थ है।

बौद्ध आगम दीघनिकाय के सामंजफलसुत्त में नियतिवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राणियों की अपवित्रता का कोई कारण नहीं है। वे कारण के बिना ही अपवित्र होते हैं। इसी प्रकार प्राणियों की पवित्रता का भी कोई कारण नहीं है। वे कारण के बिना ही पवित्र होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ भी नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता है, ऐसा नही है। न बल है, न वीर्य है, न शक्ति है और न पराक्रम ही है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी जीव परवश हैं, दुर्बल हैं, वीर्यविहीन हैं। उनमें नियति, जाति, वैशिष्ट्य एवं स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। वे छ: जातियों में से किसी एक जाति में रहकर सब दु:खों का उपभोग करते हैं। चौरासी लाख महाकल्पों के चक्र में भ्रमण करने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दु:ख का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि मैं शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य के द्वारा अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूंगा अथवा परिपक्व कर्मों को भोगकर नामशेष कर दूंगा तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), उपासकदशांग आदि जैन आगमों में भी नियतिवाद का ऐसा ही वर्णन है। शास्त्रवार्तासमुच्चय में नियतिवाद का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि जिस वस्तु को जिस समय जिस कारण से जिस रूप में उत्पन्न होना होता है वह वस्तु उस समय उस कारण से उस रूप में निश्चित उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में नियति के सिद्धान्त का कौन खण्डन कर सकता है? चूंकि संसार की समस्त वस्तुएं नियत रूपवाली होती हैं इसलिए नियति को ही उनका कारण मानना चाहिए। नियति के बिना कोई भी कार्य नहीं होता, भले ही काल आदि समस्त कारण उपस्थित क्यों न हों।

12.6 यदृच्छावाद—यदृच्छावाद का मन्तव्य है कि किसी कारणविशेष के बिना ही किसी कार्यविशेष की उत्पत्ति हो जाती है। किसी घटना अथवा कार्यविशेष के लिए किसी निमित्त अथवा कारणविशेष की आवश्यकता नहीं होती। किसी निमित्त—कारण के अभाव में ही कार्य उत्पन्न हो जाता है। कोई भी घटना सकारण अर्थात् किसी निश्चित कारण का सद्भाव होने से नहीं अपितु अकारण अर्थात् अकस्मात् ही होती है। जैसे कांटे की तीक्ष्णता अनिमित्त अर्थात् किसी निमित्तविशेष के बिना ही होती है; वैसे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ही भावों की उत्पत्ति किसी हेतुविशेष के अभाव में ही होती है। यदृच्छावाद, अकस्मात्वाद, अनिमित्तवाद, अकारणवाद, अहेतुवाद आदि एकार्थक हैं। इनमें कार्यकारणभाव अथवा हेतुहेतुमद्भाव का अभाव होता है। इस प्रकार की मान्यता का उल्लेख श्वेताश्वतर-उपनिषद्, महाभारत के शांतिपर्व, न्यायसूत्र आदि में उपलब्ध होता है।

12.7 भूतवाद—भूतवादियों की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जड़ और चेतन समस्त भावों का आधार ये चार भूत ही हैं। इन भूतों के अतिरिक्त कोई अन्य चेतन अथवा अचेतन तत्त्व जगत् में विद्यमान नहीं हैं। जिसे अन्य दर्शन आत्मतत्त्व या चेतनतत्त्व कहते हैं, उसे भूतवादी भौतिक ही मानता है। आत्म-जीव-चैतन्य भूतों का ही एक कार्यविशेष है जो अवस्थाविशेष की उपस्थिति में उत्पन्न होता है तथा उसकी अनुपस्थिति में नष्ट हो जाता है। जैसे पान, सुपारी, कत्था, चूना आदि वस्तुओं का सम्मिश्रणविशेष होने पर रक्त वर्ण की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के सम्मिश्रणविशेष से चैतन्य उत्पन्न होता है।[1] इस दृष्टि से आत्मा भौतिक शरीर से भिन्न तत्त्व सिद्ध न होकर शरीररूप ही सिद्ध होता है। सूत्रकृतांग में तज्जीवतच्छरीरवाद तथा पंचभूतवाद का जो वर्णन उपलब्ध होता है वह इसी मान्यता से सम्बंधित है। तज्जीवतच्छरीरवाद का मन्तव्य है कि शरीर और जीव एक हैं—अभिन्न हैं। इसे अनात्मवाद अथवा नास्तिकवाद भी कह सकते हैं। पंचभूतवाद की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत ही यथार्थ हैं और इन्ही से जीव की उत्पत्ति होती है। तज्जीवतच्छरीरवाद और पंचभूतवाद में सूक्ष्म अन्तर यह है कि एक के मत से शरीर और जीव एक ही हैं अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं है जबकि दूसरे के मत से पांच भूतों के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होने पर जीव की उत्पत्ति होती है एवं शरीर का नाश होने पर जीव भी नष्ट हो जाता है।

भूतवादी आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व न मानकर शरीर से सम्बद्ध चैतन्य के रूप में स्वीकार करते हैं एवं शरीर के नाश के साथ ही उसका भी नाश मानते हैं। अत: वे पुनर्जन्म तथा परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। उनकी दृष्टि में जीवन का एकमात्र ध्येय ऐहलौकिक सुख की प्राप्ति है। संसार की समस्त घटनाएं एवं विचित्रता भूतों का ही खेल है। विकासवाद का सिद्धान्त भी भूतवाद अथवा भौतिकवाद का ही एक रूप है। डार्विन के इस सिद्धान्त का अभिप्राय है कि प्राणियों की शारीरिक तथा प्राणशक्ति का क्रमश: विकास होता है। जड़तत्त्व के विकास के साथ-साथ चैतन्य का भी विकास होता जाता है। चैतन्य जड़तंत्र का ही एक अंग है, उससे भिन्न स्वतंत्र तत्त्व नहीं। चेतनाशक्ति का विकास जड़तत्त्व के विकास से सम्बद्ध है।

12.8 पुरुषवाद—पुरुषवादियों की मान्यता है कि सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता एवं संहर्ता पुरुषविशेष अर्थात् ईश्वर है जिसकी ज्ञानादि शक्तियां प्रलयावस्था में भी विद्यमान रहती हैं। पुरुषवाद के दो रूप हैं-ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद। ब्रह्मवादियों का मत है कि जैसे मकड़ी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए एवं वटवृक्ष जटाओं के लिए हेतुभूत है वैसे ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति तथा संहार के लिए निमित्तभूत है। इस प्रकार ब्रह्मवाद के मतानुसार ब्रह्म ही संसार के समस्त पदार्थों का उपादानकारण है। ईश्वरवादियों का मन्तव्य है कि स्वयंसिद्ध चेतन और जड़ द्रव्यों (पदार्थों) के पारस्परिक संयोजन में ईश्वर निमित्तभूत है। जगत् का कोई भी कार्य ईश्वर की इच्छा के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वरवाद के मतानुसार ईश्वर संसार की समस्त घटनाओं का निमित्तकारण है। वह स्वयंसिद्ध जड़ और चेतन पदार्थों (उपादानकारण) का नियंत्रक एवं नियामक (निमित्तकारण) है—विश्व का संयोजक एवं व्यवस्थापक है।

12.9 दैववाद—दैववाद और भाग्यवाद एकार्थक हैं। केवल पूर्वकृत कर्मों के आधार पर बैठे रहना एवं किसी प्रकार का पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न न करना दैववाद है। इसमें स्वतंत्रतावाद अर्थात् इच्छा-स्वातंत्र्य का कोई स्थान नहीं है। सारा घटनाचक्र अनिवार्यतावाद अर्थात् परतंत्रता के आधार पर चलता है। प्राणी अपने भाग्य का दास है। उसे असहाय होकर अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वह इन कर्मों को न तो शीघ्र या देर से ही भोग सकता है और न उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन ही कर सकता है। जिस समय जिस कर्म का जिस रूप में फल भोगना नियत होता है उस समय उस कर्म का उसी रूप में फल भोगना पड़ता है। दैववाद और नियतिवाद में समानता होते हुए भी मुख्य अन्तर यह है कि दैववाद कर्म की सत्ता में विश्वास रखता है जबकि नियतिवाद कर्म का अस्तित्व नहीं मानता। दोनों की पराधीनता आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक होते हुए भी दैववाद की पराधीनता परत: अर्थात् प्राणी के कर्मों के कारण है जबकि नियतिवाद की पराधीनता बिना किसी कारण के अर्थात् स्वत: है।

12.10 पुरुषार्थवाद—पुरुषार्थवादियों का मत है कि इष्टानिष्ट की प्राप्ति बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने से ही होती है। भाग्य अथवा दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। पुरुषार्थ अर्थात् प्रयत्न ही सब-कुछ है। प्राणी अपनी बुद्धि एवं शक्ति के अनुसार जैसा प्रयत्न करता है वैसा ही फल पाता है। इसमें भाग्य की क्या बात है? किसी भी कार्य की सफलता-असफलता प्राणी के पुरुषार्थ पर ही निर्भर होती है। पुरुषार्थवाद का आधार स्वतंत्रवाद यानी इच्छा-स्वातंत्र्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.11 जैन सिद्धान्त का मन्तव्य

जैन सिद्धान्त कर्म को प्राणियों की विचित्रता का प्रधान कारण मानता हुआ भी कालादि का सर्वथा अपलाप नहीं करता। आचार्य हरिभद्र का कथन है कि कालादि सब मिलकर ही गर्भादि कार्यों के कारण बनते हैं। चूंकि ये पृथक्-पृथक् कहीं भी किसी कार्य को जन्म देते नहीं देखे जाते अत: यह मानना युक्तिसंगत है कि ये सब मिलकर ही समस्त कार्यों के कारण बनते हैं।[1] सिद्धसेन दिवाकर ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में से किसी एक को ही कार्यनिष्पत्ति का कारण मानने और शेष की अवहेलना करने को मिथ्या धारणा कहा है। कार्यनिष्पत्ति में कालादि समस्त कारणों का समन्वय करना सम्यक् धारणा है।[2] आचार्य समन्तभद्र ने दैव और पुरुषार्थ का समन्वय करते हुए कहा है कि बुद्धिपूर्वक कार्य न करने पर भी इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होना दैवाधीन है तथा बुद्धिपूर्वक कार्य करने पर इष्टानिष्ट की प्राप्ति होना पुरुषार्थ के अधीन है। कहीं दैव प्रधान होता है तो कहीं पुरुषार्थ। अत: दैव और पुरुषार्थ के विषय में अनेकान्त दृष्टि रखनी चाहिए। इन दोनों के समन्वय से ही प्रयोजनसिद्धि होती है।[3]

12.12 सारांश–जैन सिद्धान्त में चेतन और जड़ पदार्थों के नियंत्रक एवं नियामक के रूप में पुरुषविशेष अर्थात् ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। विश्व अनादि एवं अनन्त है तथा प्राणी स्वकृत कर्मों के अनुसार इसमें जन्म-मरण का अनुभव किया करते हैं। यह चक्र बिना किसी पुरुषविशेष की सहायता से स्वभावत: स्वत: चलता रहता है। कर्म से ही प्राणी के जन्म, स्थिति, मरण आदि की सिद्धि हो जाती है। कर्म अपने नैसर्गिक स्वभाव के अनुसार स्वत: फल प्रदान करने में समर्थ होता है।

12.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. 'विश्व-वैचित्र्य का कारण केवल कर्म नहीं है' इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कर्मवाद के अलावा अन्य वादों के औचित्य पर प्रकाश डालें।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जगत् की विविधता के विषय में जैन चिंतन को स्पष्ट करें।

   अथवा

   कर्म सिद्धान्त के आधारभूत हेतु क्या हैं?
2. नियतिवाद और चदृच्छावाद के अन्तर को स्पष्ट करें।

   अथवा

   भूतवाद और पुरुषवाद के अन्तर को रेखांकित करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

दो पंक्तियों में उत्तर दें—

1. भारतीय चिंतकों की दृष्टि में सुख-दु:ख एवं सांसारिक वैविध्य का कारण क्या है?
2. कर्मवाद मध्यवाद है—इससे आप क्या समझते हैं?
3. इच्छा-स्वातंत्र्य के अभाव में कर्मवाद की संज्ञा क्या होगी?
4. कालवाद के आधारभूत ग्रंथ कौन-कौन-से हैं?
5. दैववाद एवं नियतिवाद में क्या अंतर है?
6. पुरुषवाद में कौन-कौन-से वाद आते हैं तथा उनमें क्या अंतर है?
7. सिद्धसेन दिवाकर के भव में मिथ्या और सम्यक् धारण क्या है?
8. डार्विन के विकासवाद को किस वाद की संज्ञा दी जा सकती है?
9. तज्जीवतच्छरीरवाद और पंचभूतवाद में क्या अंतर है?
10. यदृच्छावाद से आप क्या समझते हैं?

संदर्भ पुस्तकें: 1. जैन धर्म और दर्शन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

बी.ए. द्वितीय वर्ष

विषय – जैन विद्या

द्वितीय पत्र :जैन दर्शन के मौलिक तत्व

संवर्ग–I	:	लोकवाद
संवर्ग–II	:	त्रिरत्न
संवर्ग–III	:	कर्म का स्वरूप एवं अवस्थाएं
संवर्ग–IV	:	अनेकान्तवाद
संवर्ग–V	:	आत्मवाद, कार्यकारणवाद,पंचसमवाय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. दयानन्द गार्गव**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

2. **प्रो. अरूण मुखर्जी**
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

3. **प्रो. कुसुम जैन**
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर (राजस्थान)

4. **डॉ. विमला मण्डारी**
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राजस्थान)

5. **प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी**
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

6. **प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा**
आचार्या एवं विभागाध्यक्ष
जैन विद्या विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

7. **प्रो. ऋजुप्रज्ञा**
आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

8. **डॉ. शुभ प्रज्ञा**
सहायक आचार्य
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

लेखक

डॉ. समणी चैतन्यप्रज्ञा

आचार्य, जैन विद्या विभाग,
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

सम्पादक

डॉ. मुनि अमृत कुमार

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1800

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं–341 306 (राज.)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रमणिका

संवर्ग	इकाई–पाठ का नाम	पृष्ठ सं.
संवर्ग–1	लोकवाद, सृष्टिवाद, जगत् और ईश्वर	1–22
संवर्ग–2	त्रिरत्न–सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सन्यक् चरित्र त्रिपदी	23–39
संवर्ग–3	कर्म का स्वरूप, भेद, कर्म हेतु एवं प्रकार, कर्म कर्म की अवस्थाएं, कर्म और कर्मफल से मुक्ति कैसे	40–60
संवर्ग–4	अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी	61–75
संवर्ग–5	आत्मवाद–पुनर्जन्म, नयवाद, कारण–कार्य सिद्धान्त, पंच समवाय	76–93

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun